सर्वोदय-विचार
और
स्वराज्य-शास्त्र

•

विनोबा

•

अखिल भारत सर्व-सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्र स्ता व ना

'सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र' विषयक मेरे विचारों का यह संक्षिप्त संकलन पाठकों को समर्पित किया जा रहा है। मेरी दृष्टि में इसका बहुत महत्त्व है। मेरे दीर्घकालीन चिन्तन, निरीक्षण और कर्मयोग का सार इसमें आ गया है। 'स्वराज्य शास्त्र' नामक पुस्तक १९४० के कारावास-काल में लिखी गयी है। वह एक स्वतंत्र दर्शन ही है। राजनीति को हटाकर लोकनीति लाने की हमारी लगन है। 'स्वराज्य-शास्त्र' उस लोकनीति का व्याकरण है। स्वल्पाक्षर-योजना के कारण उसका अर्थ सामने के लिए मनन की आवश्यकता रहेगी। उस पर विस्तृत भाष्य लिखना संभव है, जो आज भूदान-यज्ञ की प्रक्रिया में लिखा जा रहा है।

स्वराज्य के बाद हम लोगों को सर्वोदय का मंत्र मिला। लोग समझते हैं कि स्वराज्य तो मिल गया, किन्तु सर्वोदय होना अभी बाकी है। लेकिन समझना चाहिए कि यदि स्वराज्य मिल गया, तो सर्वोदय भी हो चुका और अगर सर्वोदय होना बाकी है, तो स्वराज्य भी मिलना बाकी है। पाषाण याने पत्थर और पत्थर याने पाषाण, इतना दोनों का अद्वैत है।

इस पुस्तक के सर्वोदयविषयक विचार मूल भाषणों के रूप में रखे गये हैं। लेकिन सार भाषण शुरूकर सर्वांगीण परिष्कृत

कर दिये गये हैं। चाहिड का भाषण विशिष्ट ढंग का होने के कारण वह भी इसमें जोड़ दिया गया है। 'स्वराज्य-शास्त्र' के लिखने के बाद के ये भाषण हैं। लेकिन समझने में सुलभ होने के कारण स्वराज्य शास्त्र-प्रवेशिका का काम देंगे, इस कल्पना से उन्हें पहले लिया गया है।

स्वर्गीय श्री किशोरलाल मशरूवाला ने गांधी और मार्क्स के विचारों पर एक तुलनात्मक पुस्तक लिखी, जिसके लिए उन्होंने मुझसे प्रस्तावना की माँग की थी। वह मैंने उन्हें मराठी में लिख कर दी। वह पूरी-की-पूरी इस पुस्तक में दी गयी है। किशोरलाल भाई की पुस्तक की वह पूरक है। फिर भी वह स्वयंपूर्ण है।

इस प्रकार यह संग्रह लोकनीतिविषयक मेरे विचारों का उत्तम बहुबोधक बन गया है। अहिंसक समाज-रचना के संबंध में आस्था रखनेवाले इसका चिन्तन, मनन करेंगे, ऐसी आशा है। ऐसी आशा रखनेवाला आज कौन न होगा? अहिंसा-संबंधी आस्था विज्ञान-युग के लिए अपरिहार्य ही है।

भूदान-यज्ञ-पदयात्रा
कोयम्बतूर जिला
२१-२-'५६

विनोबा

अ नु क्र म

सर्वोदय-विचार

कर लिए गये हैं। चांडिल का भाषण विशिष्ट होने के कारण वह भी इसमें जोड़ दिया गया है। 'स्वराज्य-शास्त्र' के लिखने के बाद के ये भाषण हैं। लेकिन समझने में सुलभ होने के कारण स्वराज्य शास्त्र-प्रवेशिका का काम देंगे इस कल्पना से उन्हें पहले दिया गया है।

स्वर्गीय श्री किशोरलाल मशरूवाला ने गांधी और मार्क्स के विचारों पर एक तुलनात्मक पुस्तक लिखी, जिसके लिए उन्होंने मुझसे प्रस्तावना की माँग की थी। वह मैंने उन्हें मराठी में लिख कर दी। वह पूरी-की-पूरी इस पुस्तक में दी गयी है। किशोरलाल भाई की पुस्तक की वह पूरक है। फिर भी वह स्वयंपूर्ण है।

इस प्रकार यह संग्रह लोकनीतिविषयक मेरे विचारों का उत्तम उद्बोधक बन गया है। अहिंसक समाज-रचना के संबंध में आस्था रखनेवाले इसका चिन्तन मनन करेंगे, ऐसी आशा है। ऐसी आशा रखनेवाला बाल कौन न होगा ? अहिंसा-संबंधी आस्था विज्ञान-युग के लिए अपरिहार्य ही है।

भूदान-पद-यात्रा
कोयम्बतूर जिला
०१-९-'५६

●

परिशिष्ट :

●

स्वराज्य-शास्त्र

पहला प्रश्न १५५–१६२

१

२

दूसरा प्रश्न १६३–१७

१

२

सर्वोदय-विचार

सर्वोदय की विचार-सरणी • १

एक साल पहले इसी दिन और ठीक इसी समय वह घटना घटी, जिसके कारण हम सबको हमेशा के लिए शरमिंदा होना पड़ेगा। लेकिन वह घटना ऐसी भी है, जिससे हमें चिरन्तन प्रकाश मिल सकता है। उसने हमें देह और आत्मा का पृथक्करण अच्छी तरह सिखा दिया है।

जीवन और मरण, दोनों धन्य!

मुझसे बहुत लोगों ने पूछा कि गांधीजी ईश्वर के निस्सीम उपासक थे, तो ईश्वर ने उनकी रक्षा क्यों नहीं की? ईश्वर ने उनकी जो रक्षा की, उससे अधिक रक्षा और हो भी क्या सकती थी? देहासक्ति के कारण हम उसे न पहचानें, यह दूसरी बात है। मुझे यहाँ कुरान का एक वचन याद आता है, जिसमें कहा गया है कि जो ईश्वर की राह पर चलते हुए कत्ल किये जाते हैं, मत समझो कि वे मरे हैं। वे तो जिन्दा हैं, यद्यपि तुम देखते नहीं :

"ला तकूलु लि मंय् युक्तलु
फी सबीलिल्लाहि अम्वात् बल् अह्याउँ।
वलाकिन् ला तश् उरून"

ईश्वर की राह पर चलते हुए मरना भी जिन्दगी है और शैतान की राह पर जिन्दा रहना भी मौत है। गांधीजी ने ईश्वर की राह पर, सच्चाई और भलाई की राह पर, चलने की निरन्तर कोशिश की। उसीकी हिदायत वे लोगों को देते रहे और उसीके लिए कत्ल किये गये। धन्य है उनका जीवन और धन्य है उनकी मृत्यु!

शुद्ध भलाई से व्यक्ति, समाज दोनों का भी लाभ

भलाई की राह पर चलने की शिक्षा अनेक सत्पुरुषों ने दी है; लेकिन मानव को अभी पूरा यकीन नहीं हुआ कि भलाई से भला होता ही है। यह अभी तक

रखेगा वही सफल पायेगा। इसका प्रतिपक्षी से कोई सम्बन्ध नहीं। एकपक्षी लाना तो मंजूर है लेकिन एकपक्षी उधार और प्रेम मंजूर नहीं है, इसका क्या अर्थ है? सामनेवाला जैसा होगा वैसे ही हम बनेंगे—इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसे हमें नचायेगा वैसे नाचेंगे। आरम्भ-शक्ति या पहल (इनीशियेटिव) हमने उसके हाथ में सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और इससे एक दुष्ट चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी हो जाता है। उसे तोड़ना हो तो हिम्मत करनी चाहिए और परिणाम का हिसाब लगाये बगैर निश्चयपूर्वक प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य प्रेम और सज्जनता ही भावरूप चीजें हैं। असत्य आदि तो अभावरूप हैं। यह प्रकाश और अंधकार का झगड़ा है उसमें प्रकाश को डर कैसा!

गांधीजी की हत्या एक चुनौती

यह है सत्याग्रह की विचार-सरणी जैसी कि मैं समझता हूँ। इसीमें सबका भला है इसलिए इसे 'सर्वोदय की विचार-सरणी' भी कहते हैं। गांधीजी की हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सत्य में हमारी परम-निष्ठा हो और हम उसका अमल अपने निजी एवं सामाजिक जीवन में करने की वृत्ति रखते हों, तभी इस चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। नहीं तो हम उस चुनौती को स्वीकार न कर सकेंगे। इतना ही नहीं बल्कि तब तो हम इच्छा न रखते हुए उस हत्याकारी के पक्ष में ही शामिल हो जायेंगे।

मैं आशा करता हूँ कि गांधीजी की देह-मुक्ति हममें शक्ति-संचार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जीकर सर्वोदय की तैयारी के अधिकारी बनेंगे।

राजघाट (दिल्ली)
(गांधीजी का प्रथम वर्षश्राद्ध-दिन)
३०-१-४९

विचार के लिए चार प्रश्न

[गांधीजी के निर्वाण के बाद १३ से १५ मार्च १९४८ तक सेवाग्राम (वर्धा) में भारत के चुने हुए रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन 'गांधी-सेवा-संघ' की ओर से आयोजित किया गया था। सम्मेलन का उद्देश्य था गांधीजी के पश्चात् उनके विचारों पर श्रद्धा रखनेवाले आगे क्या काम करें इस बारे में विचार करना। इसी सम्मेलन में 'सर्वोदय-समाज' का जन्म हुआ। उसका प्रस्ताव परिशिष्ट में दिया गया है। प्रस्तुत सम्मेलन के खुले अधिवेशन में विनोबाजी के कुल तीन भाषण हुए। भाषणों में सर्वोदय-समाज की पृष्ठभूमि और स्वरूप के बारे में विवेचन किया गया है। वे ही भाषण यहाँ क्रमशः दिये जा रहे हैं।—संपादक]

मेरी मर्यादा

आज मुझे यहाँ बोलना होगा, यह तो अभी ही मुझे मालूम हुआ है। किशोरलालभाई के बदले मुझे बोलने के लिए कहा गया है। किशोरलालभाई का आप लोगों से परिचय है। वे 'गांधी-सेवा-संघ' के पाँच साल तक अध्यक्ष रहे हैं। उनके लिए यह काम आसान था। मेरी दशा इससे उल्टी है। यद्यपि मैं गांधीजी के पास रहा हूँ तो भी उनका पाला हुआ एक जंगली जानवर हूँ। आपसे निजी तौर पर कम-से-कम परिचित कोई था, तो मैं ही था। 'गांधी-सेवा-संघ' का सदस्य बनने के लिए दो-तीन दफा मुझे सूचित किया गया लेकिन मैंने स्वीकार नहीं किया। उसके कारणों में मैं नहीं उतरता।

आपमें से बहुतों के चेहरे मेरे लिए नये हैं। यहाँ आप लोगों के लिए जो कोठरियाँ बनी हैं उनके दरवाजे पर अन्दर रहनेवालों के नाम लिखे हैं। एक दिन शाम को मैं घूमता हुआ जा रहा था। एक भाई ने पूछा : "नाम तो आप पढ़ते जा रहे हैं लेकिन अन्दर बैठे हुए लोगों के रूप से क्या

प्रयोग कर रहा है। देखता है कि क्या बुराई बोने से भी भला नहीं उग सकता ? बबूल बोने से आम और आम बोने से बबूल उगेगा, ऐसी शंका तो उसके मन में नहीं आती। शायद पहले के जमाने में यह शंका भी उठी रही हो' लेकिन अब तो भौतिक सृष्टि में 'यथा बीज तथा फल' वाला न्याय उस कैसे मान्य है। फिर भी नैतिक सृष्टि में उस न्याय के विषय में उसे शंका है। साधारण तौर पर भलाई से भला होता है यह उसने पाया है; लेकिन सामाजिक भलाई असत्याची हो सकती है, ऐसा निश्चय अभी उसके पास नहीं है।

दूसरे कुछ लोगों को सामाजिक भलाई मंजूर है, लेकिन निजी जीवन में। उनका ख्याल है कि व्यक्तिगत जीवन में शुद्ध नीति बरतनी चाहिए, उससे मोह तक था सकते हैं; लेकिन सामाजिक जीवन में भलाई के साथ बुराई का कुछ मिश्रण किये बिना नहीं चलेगा। छल और बलात्‌ के मिश्रण पर दुनिया टिकती है, ऐसा यह विचार है। लेकिन गांधीजी ने इसे कभी नहीं माना और हमसे सामाजिक तौर पर सत्य, अहिंसा आदि मूलभूत सिद्धांतों का अमल करवाया। फलस्वरूप एक किस्म का स्वराज्य भी हमने पाया। जिस योग्यता का हमारा अमल था उसी योग्यता का हमारा यह स्वराज्य है। उसके लिए वे सिद्धांत जिम्मेदार नहीं हमारा अमल जिम्मेदार है। एक व्यक्ति में जो सिद्धांत सिद्ध होता है, वह सभी व्यक्तियों को लागू होता है। अगर शुद्ध नीति व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है तो समाज के लिए भी वह वैसी ही कल्याणकारी होनी चाहिए।

साधन-शुद्धि का आग्रह क्यों ?

कुछ लोगों का ख्याल है कि सत्य की कसौटी पर अपने उद्देश्यों को कस लें, तो बस है। फिर साधन कैसे भी हों चल जायेंगे। लेकिन गांधीजी ने इस विचार का हमेशा विरोध किया है। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि "मैं सत्य के लिए स्वराज्य भी छोड़ने को तैयार हो जाऊँगा।" इसका मतलब यह नहीं कि वे स्वराज्य नहीं चाहते थे या उसकी कीमत कम समझते थे। वे तो साधन-शुद्धि का महत्त्व बताना चाहते थे। स्वराज्य के लिए तो वे जिन्दगी भर लड़े; लेकिन कहते थे कि स्वराज्य तो सत्यमय साधनों से ही मिल सकता है। शुद्ध साधनों से प्राप्त किया हुआ स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा। आपका जो

साध्य की अपेक्षा साधन के बारे में ही अधिक सोचना चाहिए। साधन की जहाँ पराकाष्ठा होती है वहीं साध्य का दर्शन होता है। इसलिए साध्य और साधन का भेद भी काल्पनिक है। साधनों से साध्य हासिल होता है—इतना ही नहीं बल्कि उसका रूप भी साधनों पर निर्भर रहता है। जैसे हरएक को अपना उद्देश या मकसद अच्छा ही लगता है। इसलिए अच्छे मकसद का दावा कोई खास कीमत नहीं रखता। साध्य-साधनों में विसंगति न होनी चाहिए, यह विचार कोई नया नहीं है। लेकिन उसका प्रयोग जिस बड़े पैमाने पर गांधीजी ने हिन्दुस्तान में किया वह बेमिसाल है।

सक्रियता से सचाई श्रेष्ठ

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि सचाई और भलाई का आग्रह तो अच्छा है लेकिन हर हालत में क्रियाशील रहने का महत्त्व अधिक है। अगर भलाई रखने के प्रयत्न से क्रियाशीलता में बाधा आती हो, तो भलाई का आग्रह कुछ ढीला कर या उस आदर्श से कुछ नीचे उतरकर क्रियाशील रहना चाहिए, निष्क्रिय हरगिज नहीं बनना चाहिए। मैं मानता हूँ कि यह भी एक मोह है। जेल में सब लोगों को अधिक दिनों तक रहना पड़ता था तो उसे 'जेल में सड़ना' नाम दिया जाता था। तब गांधीजी समझाते कि शुद्ध पुरुष की निष्क्रियता में ही महान् शक्ति होती है। गीता ने अपनी अनुपम भाषा में इसे 'अकर्म में कर्म' कहा है। निस्संदेह क्रियाशीलता महान् है लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढ़कर है। विशेष परिस्थिति में निष्क्रिय भी रह सकते हैं, लेकिन सचाई को कभी छोड़ नहीं सकते।

एकपक्षीय सत्य में खतरा नहीं

कुछ लोग जो अपने को व्यवहारवादी कहते हैं सचाई पसन्द करते हैं लेकिन एकपक्षी सचाई में खतरा देखते हैं। कहते हैं कि 'सामनेवाला अगर असत्य का उपयोग करता है हिंसा करता है तो हम ही सत्य और अहिंसा पर डटे रहेंगे, तो हमारा नुकसान होगा।" ये लोग वास्तव में सचाई का मूल्य ही नहीं जानते। अगर जानते होते, तो ऐसी दलील न करते। हमारे प्रतिपक्षी भूखे रहते हैं तो हम ही क्यों खायें ऐसी दलील वे नहीं करते हैं। जानते हैं कि वा

जायेगा वही ताकत पायेगा। इसका प्रतिपक्षी से कोई सम्बन्ध नहीं। एकपक्षी लाना तो मंजूर है लेकिन एकपक्षी सचाई और प्रेम मंजूर नहीं है इसका क्या अर्थ है? सामनेवाला जैसा होगा, वैसे ही हम बनेंगे—इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसे हमें नचायेगा वैसे नाचेंगे। आरम्भ-शक्ति या पहल (इनीशियेटिव) हमने उसके हाथ में सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और इससे एक दुष्चक्र तैयार होता है। दुष्टता का एक सिलसिला जारी हो जाता है। उसे तोड़ना हो, तो हिम्मत करनी चाहिए और परिणाम का हिसाब लगाये बगैर निष्ठापूर्वक प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य प्रेम और सज्जनता ही शाश्वत चीजें हैं। असत्य आदि तो अभावरूप हैं। यह प्रकाश और अंधकार का झगड़ा है उसमें प्रकाश का डर कैसा?

गांधीजी की हत्या एक चुनौती

यह है सत्याग्रह की विचार-सरणी जैसी कि मैं समझा हूँ। इसीमें सबका भला है इसलिए इसे 'सर्वोदय की विचार-सरणी' भी कहते हैं। गांधीजी की हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सचाई में हमारी परम-निष्ठा हो और हम उसका अमल अपने निजी एवं सामाजिक जीवन में करने की वृत्ति रखते हों, तभी इस चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। नहीं तो हम उस चुनौती को स्वीकार न कर सकेंगे। इतना ही नहीं बल्कि तब तो हम इच्छा न रखते हुए उस हत्याकारी के पक्ष में ही शामिल हो जायेंगे।

मैं आशा करता हूँ कि गांधीजी की देह-मुक्ति हममें शक्ति-संचार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जीकर सर्वोदय की तैयारी के अधिकारी बनेंगे।

राजघाट (दिल्ली)
(गांधीजी का प्रथम वर्षश्राद्ध-दिन)
३ १ ४९

विचार के लिए चार प्रश्न

[गांधीजी के निर्वाण के बाद १३ से १५ मार्च १९४८ तक सेवाग्राम (वर्धा) में भारत के चुने हुए रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन 'गांधी-सेवा-संघ' की ओर से आयोजित किया गया था। सम्मेलन का उद्देश्य था गांधीजी के पश्चात् उनके विचारों पर श्रद्धा रखनेवाले आगे क्या काम करें इस बारे में विचार करना। इसी सम्मेलन में 'सर्वोदय-समाज' का जन्म हुआ। उसका प्रस्ताव परिशिष्ट में दिया गया है। प्रस्तुत सम्मेलन के खुले अधिवेशन में विनोबाजी के कुल तीन भाषण हुए। भाषणों में सर्वोदय-समाज की पृष्ठभूमि और स्वरूप के बारे में विवेचन किया गया है। वे ही भाषण यहाँ क्रमशः दिये जा रहे हैं।—संपादक]

मेरी मर्यादा

आज मुझे यहाँ बोलना होगा यह तो अभी ही मुझे मालूम हुआ है। किशोरलालभाई के बदले मुझे बोलने के लिए कहा गया है। किशोरलालभाई का आप लोगों से परिचय है। वे 'गांधी-सेवा-संघ' के पाँच साल तक अध्यक्ष रहे हैं। उनके लिए यह काम आसान था। मेरी दशा इससे उलटी है। यद्यपि मैं गांधीजी के पास रहा हूँ तो भी उनका पाला हुआ एक जंगली जानवर हूँ। आपसे निजी तौर पर कम-से-कम परिचित कोई था तो मैं ही था। 'गांधी-सेवा संघ' का सदस्य बनने के लिए दो-तीन दफा मुझे सूचित किया गया लेकिन मैंने स्वीकार नहीं किया। उसके भाषणों में मैं नहीं उतरता।

आपमें से बहुतों के चेहरे मेरे लिए नये हैं। यहाँ आप लोगों के लिए जो कोठरियाँ बनी हैं उनके दरवाजे पर अन्दर रहनेवालों के नाम लिखे हैं। एक दिन शाम को उधर घूमता हुआ जा रहा था। एक भाई ने पूछा: "नाम तो आप पढ़ते जा रहे हैं लेकिन अन्दर बैठे हुए लोगों के रूप से क्या

आप ताल्लुक नहीं रखते ?' मैंने विनोद में कहा : "रूप से नाम बड़ा है। जब नाम ही मैं कम जानता हूँ, तो फिर रूप क्या जानूँ ?"

लेकिन मेरे अपरिचय की परखें तो हद हो गयी। रात को तीन बजे अकेला उठकर आश्रम की प्रार्थना में शरीक होने के लिए निकला। रास्ते में अँधेरा छाया हुआ था जो मेरा एकमात्र साथी था। बीच में एक कुत्ते ने आवाज दी शायद अपने मालिक को आगाह करने के लिए। मैं चुपचाप आश्रम में पहुँचकर प्रार्थना की जगह बैठ गया। बाद में प्रार्थना के लिए लोग आ गये। उन्होंने मुझे देख लिया और मैं ही प्रार्थना चलाऊँ ऐसा मुझसे कहा। मैंने कहा : "मैं आपकी प्रार्थना सुनूँगा।" इसका कारण यह था कि सेवाग्राम-आश्रम की प्रार्थना का सिलसिला मैं नहीं जानता था। मैंने अपने मन में कहा : 'अब तो मेरे अपरिचय *की हद हो गयी !*" वैसे *प्रार्थना तो भगवान् की मैं भी करता हूँ जैसी मुझे* सूझती है। गांधीजी के बताये हुए ढाँचे में ही प्रार्थना करनी चाहिए, ऐसा मैंने नहीं माना है।

इसलिए ऐसे मनुष्य के लिए आपकी तरफ से खड़ा होकर कुछ कहना कितना कठिन है, यह आप समझ सकते हैं। फिर भी आज्ञा हुई है, तो मन में जो विचार उठते हैं वे आपके सामने रख देता हूँ। हमारे बुजुर्ग नेता भी यहाँ बैठे हैं। उनसे मार्ग-दर्शन की हम आशा रखते हैं। बापूजी ने तो कई बार कहा था कि उनके पीछे पंडितजी ही उनके वारिस होंगे। इसलिए उनके मार्ग-दर्शन के तो हम हकदार भी हैं।

स्वराज्य के बाद देश की इतनी अवनति क्यों ?

पहली बात यह कहना चाहता हूँ जिसका जिक्र अध्यक्ष महोदय ने किया है। बार-बार यह बात दिल में आती है। इतना बड़ा देश अपनी आजादी पाते ही फौरन इतना गिर जाता है जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। आखिर इसकी यह हालत क्यों हुई ? "आज दुनियाभर में यही हुआ है और महायुद्ध का यह नतीजा ही है' इतना कह देने से काम न चलेगा। हमारा दावा तो यह है कि हमने अपनी आजादी ऐसे विशेष तरीके से हासिल की है, जैसे दूसरे किसी भी देश ने नहीं की। यद्यपि वह तरीका अख्तियार करने का हमारा ढंग कमजोर

था फिर भी हम कामयाब हुए। दुनिया भी हमारा दावा मंजूर करती है। लेकिन ऐसा दावा करनेवाले लोग एकाएक कैसे गिर गये? मैं इसका कारण ढूँढ़ रहा हूँ, लेकिन ठीक ध्यान में नहीं आ रहा है। कारणों को जान जायें तो उनका उपाय कर सकते हैं।

प्रान्तीयता पर रोक कैसे लगे?

दूसरी विचार करने की बात प्रान्तीय भावना की है। जितना संस्कृत-साहित्य मैंने पढ़ा उसमें जहाँ-जहाँ देश-प्रेम का जिक्र आया है वहाँ 'दुर्लभं भारते जन्म' ऐसा ही वचन आया है। बंगाल में या महाराष्ट्र में या गुजरात में जन्म लेना दुर्लभ है, ऐसा वचन कहीं नहीं मिला। यह उस समय की बात है जब आज के जैसे रेलवे पोस्ट आदि यात्रा के साधन नहीं थे। उस जमाने में भी लोगों ने भारत को एक माना और उसमें जन्म लेना सौभाग्य समझा। इसीको स्वतन्त्र करने के लिए देशभर में हमने आन्दोलन किया और सबने मिलकर उसमें हिस्सा लिया। लेकिन अब स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद प्रान्तीय भेद हमने जारी में क्यों हैं? उसका जोर बढ़ ही रहा है उसे कैसे रोका जाय? यह रोका न जा सका तो आगे चलकर बहुत खतरा पैदा हो सकता है क्योंकि इसमें वही पागलपन के अंश हैं जो हिन्दू-मुस्लिम झगड़े में हैं।

अब तीसरी महत्त्व की बात साधन-शुद्धि की है। मैं सोचता हूँ कि क्या यह कभी मुमकिन हो सकता है कि हिन्दुस्तानभर में एक ही विचारधारा चलेगी? अगर यह तय है कि अलग-अलग विचार रहेंगे ही तो ऐसे विपरीत विचार रखनेवाले को क्या हम नतीजे पर आना जरूरी नहीं कि अपने विचारों के प्रचार में हम अशुद्ध या हिंसात्मक साधनों का उपयोग कभी न करेंगे? बापू ने अपनी जिन्दगीभर हमें यही सिखाया कि "जैसे हमारे साधन वैसे ही हमारे साध्य होंगे।" यानी साधनों का असर साध्य पर पड़ता है। इसलिए जरूरी होता है कि अच्छे साध्य के लिए साधन भी अच्छे ही हों। गांधीजी की हत्या के पीछे एक बड़ी जमात है। वह हत्या की योजना बनाती है, हत्या होने पर आनन्द मनाने की तैयारियाँ करती है और उसके सारे आयोजन का हम लोगों को पता तक नहीं रहता। अगर हम साधन-शुद्धि का विचार छोड़ दें तो ऐसी जमात

प्रशंसा के योग्य न गिनी जायगी। अपना उद्देश पूरा करने के लिए चाहे जैसे साधन मान्य समझे जायँ तो फिर किसका उद्देश ठीक है और किसका बे-ठीक, यह कौन तय करेगा? हरएक को अपना उद्देश ठीक ही लगता है। लेकिन कितने ही अलग-अलग उद्देश क्यों न हों उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा और असत्य का उपयोग तो करना ही नहीं है, इस विषय में सब मिलकर एक मोर्चा बना सकें तो यह बड़ी चीज होगी। हमें नये सिरे से योजना करनी है नयी व्यवस्था स्थापित करनी है नव-रचना करनी है आदि प्रश्न इस समय जरा किनारे रखकर यही विचार पहले पक्का कर लें कि हमें शुद्ध साधनों का ही उपयोग करना है। जिनका ऐसा निश्चय हो वे सब हमारे ही सहयोगी हैं, ऐसा हम समझें।

वास्तविक स्मारक

यहाँ विचार हो रहा है कि अपना एक मित्रमंडल स्थापित किया जाय। उसका नाम क्या हो कौन-कौन उसमें शामिल किये जायँ आदि पर चर्चा चल रही है। मैंने कहा "मुझे नाम नहीं काम चाहिए। साधन के बारे में हम पहले अपना निश्चय करें। यह हो जाय तो उसके माननेवालों के नामों की मुझे जरूरत नहीं। उनके काम ही दुनिया को दिखाई देंगे। कोई खास संघ स्थापित करने से क्या होगा? संघ में तो चन्द लोगों का ही समावेश होता है।

लेकिन गांधीजी का संघ सारा हिन्दुस्तान है यही हमें समझना चाहिए। एक भाई मुझसे पूछ रहे थे: "गांधीजी के स्मरण के लिए अशोक-स्तम्भ जैसे स्तम्भ खड़े किये जायँ तो कैसा रहेगा?' मैंने कहा: 'जनता से जाकर पूछो कि वह अशोक के स्तम्भों को कितना जानती है? जनता को अशोक के नाम का भी पता नहीं। इतिहास में कई राजा हो गये उनमें अशोक भी एक हुआ। निःसन्देह वह एक महान् और उदार राजा था लेकिन जनता उसे कहाँ जानती है? वह तो कबीर, नानक, तुलसीदास को जानती है। गांधीजी का भी जनता के हृदय में ऐसा ही स्थान है। फिर उनके स्मरण के लिए स्तम्भों की जरूरत ही क्या है? उनका तो विचार लेकर हमें जनता में पहुँचना चाहिए।

उनका मुख्य विचार सत्य और साधन-शुद्धि का था। साधन-शुद्धि का प्रयोग

बड़े पैमाने पर गांधीजी ने ही पहली बार किया। मानव-इतिहास में वह एक बड़ी चीज थी। इसी विचार को दृढ़ कर बाकी के सारे विचार भेदों को हम गौण समझें तो कितना अच्छा होगा!

'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त अमल में लायें

और एक बात! गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' शब्द का उपयोग किया। ऐसे शब्दों से जैसे कुछ लाभ होता है, वैसे ही नुकसान भी होता है। 'ट्रस्टीशिप' शब्द के सारे सहचारी भाव अच्छे नहीं हैं। आजकल कुछ बुरे सहचारी भाव भी उसके साथ जुड़ गये हैं। 'ट्रस्टीशिप' शब्द की परिभाषा तो हम बोलते हैं, लेकिन उसके पीछे जो विचार है, उसका अमल करने का वचन नहीं मानते। अगर यही स्थिति रही तो मुझे डर है कि हिंसा कभी न रुकेगी। हमारे यहाँ गरीबी इस हद तक पहुँच गयी है कि गरीब जनता को दूसरी तरह से उभाड़ना बहुत ही आसान है। कह नहीं सकते कि फिर वह अहिंसा से ही काम लेगी। इसलिए हमें निश्चय करना चाहिए कि 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त का अमल करने की हम पूरी कोशिश करेंगे और ज्यादा बकवास न रखेंगे। "इतनी आपवाद आयत और इतनी नाजायज ऐसी कोई कमौर थोड़े ही चल सकते हैं!" ऐसा कहकर यह बात टाल देंगे तो आगे आनेवाला खतरा भयंकर है। 'ट्रस्टीशिप' शब्द की पावनता का आधार लेकर अगर हम अपना जीवन-क्रम वैसे ही चलाते रहें, तो सुनाम भी बुनाम बन जायगा।

सेवाग्राम

१६. ३. ४८

'सर्वोदय' समाज क्यों ? ३

'सर्वोदय-समाज' का विचार मैंने क्यों पसन्द किया और इसकी बनावट की चर्चा के समय मैं कुछ भिन्न विचार क्यों रखता था, यह आप लोगों के सामने रख देना ठीक होगा।

मैं संस्थाओं से मुक्त क्यों हुआ ?

एक बार जेल में काफी देखने और सोचने का मौका मिला। मैं एकान्त में रहनेवाला मनुष्य हूँ। यद्यपि भगवान् की दया से मेरे साथ कुछ साथी रहते और मेरी मदद करते हैं फिर भी मैं एकांत-प्रिय ही रहा हूँ। लेकिन जेल में तो समाज ही में रहना हुआ और उससे सोचने का काफी मसाला मिल गया। वहाँ सब तरह के लोगों से सम्पर्क हुआ। उनमें कांग्रेसवाले थे, समाजवादी फार्वर्ड ब्लाकवाले और दूसरे भी थे। देखा कि ऐसा कोई खास पक्ष नहीं जिसमें दूसरे पक्षों की तुलना में अधिक सज्जनता दिखाई देती हो। जो सज्जनता गांधीवालों में दिखाई देती है वही दूसरों में भी दिखाई देती है और जो दुर्जनता दूसरों में पायी जाती है वह इनमें भी पायी जाती है। जब मैंने देखा कि सज्जनता किसी एक पक्ष की चीज नहीं तब सोचने पर इस निर्णय पर पहुँचा कि किसी खास पक्ष या संस्था में रहकर मेरा काम न चलेगा। सबसे अलग रहकर सज्जनता की ही सेवा मुझे करनी चाहिए। जेल से छूटने के बाद यह विचार मैंने गांधीजी के सामने रखा। उन्होंने अपनी भाषा में कहा : तेरा अभिप्राय मैं समझ गया। तू सेवा करेगा लेकिन अधिकार नहीं रखेगा। यह ठीक ही है। इसके बाद भिन्न-भिन्न संस्थाओं में मैं था उनसे इस्तीफा देकर अलग हो गया। वे संस्थाएँ मुझे प्राण-समान थीं। उनके उद्देश्यों और कार्यक्रमों को अमल में लाने की कोशिश बरसों से मैं करता आया था। उनसे अलग होते समय दुःख जरूर हुआ लेकिन आनन्द का भी अनुभव किया। क्योंकि उन संस्थाओं की मदद तो मैं करनेवाला ही था। फिर भी अहिंसा के विकास के लिए मुक्त रहना जरूरी

समझता था। हाँ, इसके साथ मैं यदि इस नतीजे पर आया होता—जैसा कि शंकररावजी ने सूचित किया—कि "कोई भी संस्था जब बनती है, तब उसमें थोड़ी हिंसा तो आ ही जाती है" तो उतनी थोड़ी हिंसा की भी गुंजाइश मैं न रखता और आप लोगों से यही कहता कि किसी भी संस्था में आप न जायें।"

संस्था के साथ हिंसा अनिवार्य नहीं

शस्त्रों के बारे में आज हम इस नतीजे पर आये हैं कि शस्त्र धारण करने से हिंसा ही बनती है। एक जमाना था जब कि धर्म और सन्मार्ग की रक्षा के लिए दयालु पुरुषों ने शस्त्र-धारण करना जरूरी समझा था। उस जमाने में शस्त्रों का कुछ बचाव भी हो सकता था। लेकिन आज तो हम इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि शस्त्रों से लाभ नहीं हानि ही होती है। पुराने जमाने में भी शस्त्रों पर भरोसा न रखनेवाले कुछ व्यक्ति थे। लेकिन वे व्यक्तिगत जीवन में ही वैसी श्रद्धा रखते थे। सारे समाज को शस्त्र छोड़ने के लिए कहने की हिम्मत वे भी न करते थे। तुकाराम महाराज से यदि शिवाजी महाराज पूछते कि "क्या आप मुझे शस्त्र छोड़ देने की सलाह देंगे" तो शायद तुकाराम यही कहते 'आपकी प्रकृति को देखते हुए मैं आपसे शस्त्र छोड़ने के लिए न कहूँगा यद्यपि मेरी प्रकृति मुझे शस्त्र-धारण करने को नहीं कहती। अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार चलना ही धर्म है।' लेकिन आज विज्ञान की प्रगति को देखते हुए शस्त्रों के उपयोग से जो अपार हानि होगी उसकी तुलना में उनसे होनेवाला लाभ इतना मामूली ठहरेगा कि उसे हिसाब में गिना भी न जायगा।

इसलिए जैसे अब हम लोग इस निर्णय पर पहुँच चुके कि शस्त्रों से हिंसा ही होती है वैसे अभी तक मैं इस निश्चय पर नहीं पहुँचा कि अगर संस्था बनती है तो उसमें कुछ-न-कुछ हिंसा आ ही जाती है। शंकररावजी ने उसके लिए जो दृष्टान्त दिया है, उसे भी मैं सुधारना चाहता हूँ। उन्होंने यह एक साधारण बात कह दी कि मनुष्य में हिंसा का अंश होता है, इसलिए जहाँ दो मनुष्य इकट्ठा होते हैं वहाँ हिंसा आयेगी ही। लेकिन यह हमेशा का नियम नहीं है। मुझमें हिंसा है लेकिन जब मैं किशोरलालभाई जैसे पुरुष के साथ काम करता हूँ तब

मेरी हिंसा कम हो जाती है। मानी सज्जन धाम जब इकट्ठा होते हैं तब हिंसा कम हो जाती है। 'एक से दो भले' हम कहते ही हैं।

सर्वोदय-समाज अहिंसक संस्था क्यों ?

हाँ, जब हम ऐसी संस्था बनाते हैं जहाँ कुछ अनुशासन हो और उसे न माननेवालों के खिलाफ कारवाई करनी पड़े तो वहाँ हिंसा की सम्भावना रहती है। लेकिन वहाँ भी अगर किसी पर संस्था में शामिल होने का बन्धन न होकर संस्था के नियम रखे गये हों तो बात दूसरी हो जाती है। संस्था में शामिल न होने की हरएक को स्वतन्त्रता है। शामिल होने पर भी कुछ नियमों का पालन हम न कर सकें तो खुद होकर उससे हटने का भी मार्ग है। लेकिन जो आदमी अपनी इच्छा से ऐसी संस्था में दाखिल होता है फिर नियमों का ठीक पालन नहीं करता और उस पर भी संस्था के अन्दर रहने का आग्रह रखता है, उसके विरुद्ध विवश होकर संस्था को अनुशासन की कारवाई करनी पड़ती है, तो उसका बचाव भी हो सकता है। फिर भी उसमें हिंसा का अंश दाखिल होना सम्भव है। लेकिन ऐसे अनुशासन की भी जहाँ गुंजाइश नहीं वहाँ हिंसा का सवाल ही नहीं आता। 'सर्वोदय-समाज' ऐसी ही संस्था है। वहाँ अनुशासन नहीं है। इससे बहुत सारे खतरे मिट जाते हैं। इसलिए मैं इसका समर्थन कर रहा हूँ।

संघ' नहीं 'समाज' ही क्यों ?

अब नाम के बारे में कुछ कहना चाहिए। 'संघ' न कहते हुए जो 'समाज' शब्द रखा है वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं बल्कि इसके पीछे एक विचार है। संघ' शब्द में विशिष्ट अर्थ है। उसमें व्यापकता की कमी है। इसके विपरीत 'समाज' व्यापक है और 'सर्वोदय' शब्द के कारण उसकी व्यापकता परिपूर्ण हो जाती है। नाम का परिवर्तन महत्त्व की चीज होती है। बहुत-सा काम तो नाम से ही हो जाता है। अच्छे नामों में जीवन-परिवर्तन कर देने की शक्ति होती है।

'सर्वोदय' शब्द पर स्पष्टीकरण

अब 'सर्वोदय' के बारे में थोड़ा कह दूँ। अमतुस्सलाम ने चिट्ठी भेजी है। उसमें वे कहती हैं कि 'सर्वोदय' शब्द हमारे देहाती भाई आसानी से समझ न

पायेंगे। उन्होंने सुझाया है कि इसमें गांधीजी का नाम जोड़ दिया जाय। उनकी भावना से मेरी सहानुभूति है और मैं मानता हूँ कि जैसे किसी व्यक्ति का नाम रखने में कुछ दोष आ जाता है वैसे ही उस नाम को टालने में भी दोष हो सकता है। लेकिन मेरा यही सुझाव है कि इस बारे में आग्रह न रखा जाय। गांधीजी ने देह छोड़ते वक्त भगवान् का नाम लिया था। उसीका आश्रय लेकर हम काम करें। उसीसे हम स्फूर्ति और मार्ग-दर्शन भी मिलेगा।

हाँ 'सर्वोदय' शब्द देहाती भाइयों के लिए कुछ कठिन हो सकता है। लेकिन यह कबूल करते हुए भी मुझे कहना है कि यही नाम रखा जाय। 'सत्याग्रह' शब्द भी वैसे कठिन था लेकिन प्रत्यक्ष कृति से वह आसान बन गया। वैसे ही यह शब्द एकदम नया भी नहीं गांधीजी का बनाया हुआ है। गांधीजी ने रस्किन की 'अन् टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक का अनुवाद किया है। उसका उन्होंने 'सर्वोदय' नाम रखा था। उसमें बतलाया गया है कि ऊँच और नीच सबके मानवीय अधिकार समान हैं। उसीको गांधीजी ने 'सर्वोदय' का विचार कहा। गांधीजी के विचारों का प्रचार करनेवाली जो मासिक-पत्रिका निकली उसका भी 'सर्वोदय' नाम रखा गया था। 'नवजीवन' शब्द जब निकला तब वह भी कठिन ही था। विशेष अर्थ बतानेवाले शब्दों का कठिन होना कोई आश्चर्य नहीं। कारण ऐसे कठिन शब्द समझाने के निमित्त मुझे जनता के हृदय तक पहुँचने का मौका मिलता और जनता के ज्ञान में भी वृद्धि होती है। विशेष शब्द रखने से काम यह होगा कि उसे सुनते ही लोग हमसे पूछेंगे : "भाई, इसका अर्थ क्या है ?" इससे देहाती भाइयों को पाठ देने का पहला मौका उस नाम से ही मुझे मिल जाता है। इसके बदले यदि मैं उनके परिचय का कोई नाम रखता हूँ, तो मेरी जरूरत ही क्या रही ! फिर तो मैं ही खतम हो जाता हूँ। 'सर्वोदय' शब्द समझाते समय भी अगर मैं कठिन शब्दों से काम लूँ तो मुझ पर अवश्य यह आक्षेप लागू होगा। लेकिन मैं तो ऐसे ही शब्दों से समझाऊँगा जिन्हें वे आसानी से समझ सकते हों।

सर्वोदय के पीछे महान् विचार

इस प्रस्ताव के पीछे एक महान् विचार है। एक गांधी गया उसकी जगह

करोड़ों गांधी पैदा हों, ऐसी शक्ति उसमें है। यह संस्था न तो नियंत्रण करनेवाली है, न कोई सत्ता चलानेवाली और न गांधीजी के सिद्धान्तों का अर्थ ही बतानेवाली है। इसीलिए इसमें कोई भय नहीं। इस प्रस्ताव में जो विचार है, वह क्रान्ति करनेवाला है।

व्यक्ति से सिद्धान्त श्रेष्ठ

आखिर जिन्हें 'गांधीजी के सिद्धान्त' कहा जाता है, वे आये कहाँ से? वे तो आत्मा के ही सिद्धान्त हैं। वही आत्मा आप और मुझमें मौजूद है। इसलिए वे हम सबके सिद्धान्त हैं। जो उन्हें मानता है उसके वे सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों को अपना समझकर हम चलेंगे, तभी काम होगा। हम सत्य का आश्रय रखेंगे तो क्या गांधीजी कहते थे इसलिए? क्या गांधीजी के कारण सत्य की प्रतिष्ठा है या सत्य के कारण गांधीजी की? एक भाई ने मुझसे कहा : "गांधीजी ने शरीर-परिश्रम को अपनाकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। मुझसे रहा नहीं गया। मैंने कहा : "गांधीजी कौन थे, जो श्रम को प्रतिष्ठा देते? शरीर-परिश्रम को अपनाकर गांधीजी ने खुद प्रतिष्ठा प्राप्त की है। सिद्धान्त व्यक्ति से बढ़कर होते हैं। इसलिए उन पर अमल कर व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त हुआ करती है।'

विचारों के प्रचारार्थ गांधीजी का नाम क्यों?

गांधीजी से तो मैंने भर-भरकर पाया है। लेकिन उनके अलावा औरों से भी पाया है। जहाँ-जहाँ से जो मिला वह मैंने अपना-सा कर लिया। अब वह सारी पूँजी मेरी हो गयी है। उसमें से गांधीजी की दी हुई कितनी है और दूसरों की कितनी, इसका अलग-अलग हिसाब भी मेरे पास नहीं है। जो विचार मैंने सुना वह अगर मुझे जँच गया और उसे मैंने हजम कर लिया, तो फिर वह मेरा ही हो गया। वह अलग कैसे रहेगा? मैंने केले खाये और हजम किये, उनका मांस मेरे शरीर पर चढ़ा। अब वे केले कहाँ रहे? वे तो मेरा जिस्म बन गये। इसी तरह जो विचार मैंने अपनाया वह मेरा ही हो गया। फिर अपनी चीज में जब [illegible] ममता होती है, उसी ममता से उस विचार को मैं दूसरों के सामने [illegible]। [illegible] पर [illegible] " [illegible] [illegible] मेरा।" फिर यह मेरा व्यवहार [illegible] ऐसी बात है? अगर सिद्धान्त

गांधीजी के हैं तो घर और जायदाद भी गांधीजी की है, ऐसा क्यों नहीं कहते ? अगर गांधीजी के कोई सिद्धान्त होते, तो मृत्यु के बाद वे उन्हें अपने साथ ले गये होते। लेकिन ऐसा नहीं है। वास्तव में सिद्धान्त गांधीजी के न होकर गांधीजी द्वारा प्रकट हुए हैं। उन्हें जब मैं ग्रहण करता हूँ, तब वे मेरे ही बन जाते हैं। उन्हें लोगों के सामने रखते समय गांधीजी के नाम से रखने की जरूरत नहीं। स्वतन्त्र रूप से लोगों को विचार समझा सकते हैं। वे लोगों की बुद्धि को जँच जायँ उनके बन जायँ तभी उन पर वे अमल करें, यही मैं कहूँगा। अगर हम इस तरह काम करें, तो हिन्दुस्तान का कायापलट हो जायगा। मन्त्र के अक्षर कागज पर लिखे होते हैं। जो उन्हें समझकर अपने जीवन में उनके अनुसार परिवर्तन करता है, उसे वे काम आते हैं। नहीं तो एक कीड़ा उन मन्त्रों को कागज सहित पूरा खा जाता है फिर भी उसे कोई लाभ नहीं होता। यही विचारों का हाल है।

'समाज' का 'सेवक' कौन ?

प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि "सर्वोदय-समाज के विचारों को माननेवाले अपने-अपने नाम पोस्टकार्ड द्वारा भेज दें ताकि उनकी रजिस्टरी रखी जा सके।" समझ नहीं पाया कि ऐसी रजिस्टरी का हम क्या करेंगे ? फिर भी मैंने सम्मति दे दी। क्योंकि मैंने देखा कि उससे हमारे भाइयों को सन्तोष होता है। लेकिन इससे यह न समझा जाय कि 'सर्वोदय समाज' के वे ही सेवक हैं जिन्होंने अपने नाम भेजे हैं। जिनके नाम दफ्तर में दर्ज नहीं लेकिन इसी काम को कर रहे हैं वे भी इस समाज के सेवक हैं। प्रतिवर्ष जो सम्मेलन होगा उसमें जिनके नाम दफ्तर में हैं वे ही आयें ऐसा भी नहीं। इस विचार में श्रद्धा रखनेवाले सब कोई उस सम्मेलन में आ सकते हैं। जो आयेंगे, वे अपनी-अपनी व्यवस्था स्वयं कर लेंगे। जो अपने नाम न भेजें और इस सम्मेलन में भी न आयें लेकिन अपने स्थान पर ही काम करते रहें वे भी इस समाज के सेवक हैं। जो अपने को 'सेवक' नहीं कहलवाते लेकिन काम यही करते हैं वे भी सर्वोदय-समाज के सेवक हैं। ऐसा व्यापक हमारा सर्वोदय-समाज है।

प्रार्थना का महत्त्व

एक बात और, जो एक भाई ने मुझे सुझायी। हम सभी जानते हैं कि

गांधीजी ने परमेश्वर की प्रार्थना के विचार में और प्रार्थना-स्थल पर ही देर होती। लेकिन प्रार्थना का जो दर्शन गांधीजी को हुआ था, वह अब तक हमें नहीं हुआ है। इसलिए वे भाइ पूछते हैं कि प्रस्ताव में जो बातें कर्तव्य रूप में बतायी गयी हैं उनमें प्रार्थना को भी क्यों न दाखिल किया जाय? बात तो ठीक है। लेकिन करने की बहुत-सी बातों में इसे जोड़ देने से उद्देश्य सफल न होगा। मैं मानता हूँ कि प्रार्थना में अपार शक्ति है। नारद ने भगवान् से पूछा : "आप कहाँ रहते हैं?" भगवान् ने जवाब दिया : "योगियों के हृदय में भी शायद मैं न रहूँ, लेकिन जहाँ मेरे भक्त एकत्र होकर गायन करते हैं वहाँ अवश्य रहता हूँ।" गांधीजी का अंतिम संदेश भी यही है। लेकिन प्रार्थना केवल एक बाह्य-क्रिया थोड़े ही है। वह तो हृदय की बात है। मनुष्य को भगवान् से वाणी दी है, इसलिए वह वाणी से भी भगवान् का नाम लेता और समाधान पाता है। हम 'माँ' कहकर पुकारते हैं तो हमें समाधान होता है। किसीने मुझसे पूछा : "माँ का नाम लेने से क्या होता है?" मैंने जवाब दिया : "तू बीमार पड़ फिर बताऊँगा कि क्या होता है।" एक आदमी की माँ पचीस साल पहले मर चुकी थी। वह बीमार पड़ा तब "अरी माँ!" कहने लगा। क्या वह जानता न था कि उसकी माँ मर चुकी है? लेकिन उसने जिस माँ का नाम लिया वह उसके लिए जिंदा थी। इस तरह भगवान् के अंशमात्र के नाम का जब इतना प्रभाव होता है तो प्रत्यक्ष भगवान् के नाम से हमें कितनी ताकत मिल सकती है। यह बात हम समझ लें और प्रस्ताव में लिखे बिना भी उसे जीवन में मुख्य स्थान दें।

सेवाग्राम
१४-३-'४८

साधन-शुद्धि का क्रान्तिकारी सिद्धान्त

बापू के जाने की खबर जब मुझे मिली तो दो-तीन दिनों तक मेरा चित्त शांत रहा। मेरी कुछ ऐसी आदत है कि किसी चीज का मुझ पर एकदम असर नहीं होता। वैसे ही इस घटना का भी हुआ। लेकिन दो-तीन दिनों बाद असर होने लगा और चित्त में व्याकुलता भी आ गयी। उन दिनों गोपुरी में रोज प्रार्थना में बोलना पड़ता था। सेवाग्राम के आश्रम में भी तीन दिन मैं बोला। पहले दिन वहाँ प्रार्थना-भूमि पर जब मैं बोलने लगा तो मेरी आँखों से आँसू गिरने लगे। यह देख किसी भाई ने पूछा: "क्या विनोबा भी रोये!" मैंने कहा: "हाँ भाई, मुझे भी भगवान् ने हृदय दिया है। उसके लिए मैं भगवान् का उपकार मानता हूँ। लेकिन मेरी आँखों में जो आँसू आये, वे बापू की मृत्यु के लिए नहीं थे। क्योंकि मैं मानता हूँ कि उनकी मृत्यु तो ठीक वैसे ही हुई, जैसे किसी भी महापुरुष की हो सकती है। इसलिए मेरे लिए तो वह आनंद ही की बात थी। मुझे दुःख इस बात का था कि अपने भाइयों की इस हत्याकारी मनोवृत्ति को मैं रोक न सका यहाँ तक कि पवनार से भी कुछ लोग आर. एस. एस. के मामले में गिरफ्तार किये गये। वे अपराधी ही होंगे ऐसा मैं नहीं मानता। कुछ भी हो, लेकिन आश्चर्य यह कि जिस गाँव में मैं इतना काम कर रहा हूँ वहाँवालों के हृदय तक भी मैं न पहुँच पाया और इसी बात का मुझे बड़ा दुःख हुआ।

शुद्ध साधनों का आग्रह

आपके सामने यह जो प्रस्ताव रखा गया है उसके पीछे दिल में एक महान् विचार है। हमें समझना चाहिए कि हिन्दुस्तानभर के सभी लोगों का एक ही धर्म होना संभव नहीं। ऐसी स्थिति में अपने-अपने धर्म की सिद्धि के लिए जो-जो साधन उपयोग में लाये, वे अगर सच्चे और अहिंसक न रहे तो हिन्दुस्तान के टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे। हिन्दुस्तान में [illegible]

हम गांधी-हत्या के जिम्मेवार

अपना यह दुःख किस भाषा में प्रकट करूँ! मैं तो मानता हूँ कि बापू की हत्या की जिम्मेवारी हम पर है। बापू ने बार-बार हमसे कहा कि अपने साधन शुद्ध रखो। हम उस बात में ऊपर-ऊपर से तो 'हाँ' करते गये, लेकिन उसके अनुसार अपना जीवन नहीं बदला। ऐन मौके पर तो हमने असत्य और हिंसा से भी काम लिया। उसीका फल भगवान् हमें चखा रहा है ऐसा मैं मानता हूँ।

अहिंसा के पालन में रिआयत नहीं

पण्डितजी ने अपने भाषण में एक बात बहुत ही नम्रता से कही। उन्होंने कहा "जब बापू हमसे यह कहते थे कि अंग्रेजों के साथ अहिंसा से ही लड़ो, तब उनकी बात से मैं एकदम सहमत हो गया, क्योंकि मैंने सोचा कि यदि अंग्रेजों से लड़ने के निमित्त हिंसा को हिन्दुस्तान में स्थान मिला, तो उनके चले जाने पर वह (हिंसा) सारे हिन्दुस्तान को खा जायगी। कितना भयंकर डर है यह!

लेकिन मैं समझता हूँ कि हमने इस चीज को अभी गहराई से नहीं सोचा है। क्या अहिंसा हमेशा का ही नियम है? क्या ऐसा मौका नहीं आ सकता जब कि हिंसा का उपयोग करना पड़े, ऐसी भी शंका हमें हुआ करती है। आज भी हमारे एक भाई ने अध्यक्ष महोदय को एक पत्र लिखा, जिसमें कुछ-कुछ प्रसंगों पर हिंसा का सहारा लेने की छूट रखनी चाहिए, ऐसी सूचना है।

इस सूचना पर टीका तो क्या करूँ! लेकिन इससे यही दीखता है कि अभी भी हमारा दिमाग साफ नहीं है। आखिर अहिंसा के पालन में रिआयत की माँग क्यों होती है? अहिंसा की शर्त कड़ी क्यों लगती है? मान लो कि हमें इमारत बनानी है। शिल्प कहता है कि दीवार समकोण में, यानी ९० अंश में ही खड़ी करनी होगी, तब क्या हम यह छूट मांगेंगे? जब हम जानते हैं कि इमारत ९० अंश में खड़ी न करने पर गिर पड़ती है तो हम यह मांग ही क्यों करते हैं कि ८९ या ९१ अंश में क्यों न खड़ी की जाय? [illegible] अंश का आग्रह रखते हुए भी मकान में कुछ कसर रह जाय तो वह हमारी कमी है। लेकिन [illegible]

१

अपवाद की गुंजाइश पहले से ही हम क्यों रखें ? यह गुंजाइश आगे चलकर बढ़ जाती और हमें पूरा ही खा जाती है। मान लें कि किसी खेत के इर्द-गिर्द बाड़ लगा दी और बीच में कुछ जगह वैसे ही छोड़ दी, तो क्या होगा ? वहीं ढोर भी घुसकर सारा खेत खा जायेंगे। इसी तरह इस बात को सोचिये। अहिंसा का आग्रह रखने के बाद उसका अमल करने की पूरी कोशिश करते हुए कभी भूल हो सकती है, लेकिन पहले से ही उसके लिए गुंजाइश न रखनी चाहिए।

क्रान्तिकारी सिद्धान्त

अब प्रस्ताव के आखिरी हिस्से के बारे में विचार करें। उसमें शरणार्थियों की सेवा की बात है। उस सेवा की आज अत्यन्त जरूरत है और देश के सामने यह एक बड़ी भारी समस्या है, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन मुख्य बात पहली ही है। हम यह प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि सत्य-अहिंसा से ही काम लेंगे। ऐसा मनुष्य अपनी जगह रहकर भी जो काम करेगा, उससे वह हिन्दुस्तान को बचायेगा। श्री कृपालानीजी ने अपने सुन्दर भाषण में एक बहुत महत्त्व की बात कही है। उन्होंने कहा कि "सेवा के काम जब क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से जोड़ दिये जाते हैं, तब उनमें ताकत पैदा होती है।" हमारे साधन शुद्ध ही होने चाहिए, यह एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है। उसके साथ शरणार्थियों की सेवा को इस प्रस्ताव में जोड़ दिया है। शुद्ध साधनों का नतीजा ही ये शरणार्थी हैं। अगर हम साधन-शुद्धि का संकल्प कर उनकी सेवा में लग जायें तो हमारे जीवन में क्रान्ति हो जायगी और जब हमारे जीवन में क्रान्ति हो जाय तो सारी दुनिया में वह हो जायगी।

दोपहर को दोस्त मेरे इस विषय पर चर्चा चल रही थी कि नये कार्यकर्ता तैयार करने की कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। आप कह रहे थे कि कार्यकर्ताओं के अभाव में काम रुक रहा है। हमारे पूर्वजों ने तो बार-बार यह समझाया है कि आप कोई भी काम करते रहें, उसके साथ स्वाध्याय और प्रवचन होने ही चाहिए। मैं तो इस विचार पर प्रतिदिन अमल करता आया हूँ। लेकिन सारे हिन्दुस्तान की दृष्टि से देखा जाय तो यह आक्षेप सही है कि हमने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसलिए नये कार्यकर्ता तैयार करने के लिए शिक्षण की कोई

व्यवस्था होनी चाहिए। उसके लिए योग्य आदमी चाहिए, लेकिन हालत यह थी कि अपना चालू काम छोड़कर ही उन्हें इस काम में लगना पड़ेगा। क्योंकि योग्य मनुष्य बेकार नहीं होते और बेकार मनुष्य योग्य नहीं। तब यह समस्या हल कैसे हो? एक-एक से पूछा जा रहा था। अपना-अपना काम छोड़ना हरएक को मुश्किल हो रहा था। आखिर हरिभाऊजी से पूछा गया तो उन्होंने कहा "अगर मैं अपना चालू काम छोड़ सकूँ तो शिक्षण का काम अच्छी तरह कर पाऊँगा। उसके लिए अच्छी व्यवस्था भी हमारे पास मौजूद है। लेकिन चालू काम छोड़ना ही है तो शरणार्थियों की सेवा के लिए छोड़ देने की इच्छा हो सकती है।" यह सुनते ही बिजली जैसा एक विचार मुझे सूझ गया। मैंने कहा "ठीक है। *शरणार्थियों के काम के लिए अगर अपना स्थान छोड़ने की* हमारी तैयारी है, तो वहीं हमारा विद्यालय क्यों न हो? हमारे लोग शरणार्थियों में जायेंगे तो उनके साथ हम ८ १ विद्यार्थी भी कर देंगे।

'काम में मदद देंगे और साथ-साथ तालीम भी पायेंगे। काम करते-करते तालीम पाना ही तो हमारी शिक्षण-दृष्टि है।" इसलिए शरणार्थियों के काम में लग जाने की अगर तैयारी होती है तो कार्यकर्ताओं को शिक्षण देने का प्रश्न अच्छी तरह हल हो सकता है। लेकिन इस काम में पड़ने की वृत्ति क्षणिक *उत्साह की न हो, पूर्तियुक्त उत्साह की चाहिए।*

इस काम में व्यवसायी शिक्षक की योग्यता रखते हों, वे उसमें लगें। आगे और जो वैसी योग्यता न रखते हों, वे भवन के विद्यार्थी बनकर आयें। उनको काम करनेवाले उत्तम शिक्षा मिलेगी। शरणार्थियों की सेवा का काम तमाम होने पर फिर अलग-अलग प्रान्तों में वे उत्तम विचारक बन सकेंगे।

इसलिए क्षणिक उत्साह से नहीं, बल्कि पूरा सोचकर और आपनी के बारे में इन विचारों पर हम इस काम में लग जायँ तो देश का और दुनिया का बहुत भला होगा। देश पर आयी हुई मुसीबत आपत्ति भी सम्पत्ति का रूप लेगी।

सेवाग्राम
१५-१-४८

'सर्वोदय' का सरल अर्थ

'सर्वोदय' एक ऐसा व्यापक शब्द है कि उसका जितना अधिक चिन्तन और प्रयोग करते जायें, उतना ही अधिक अर्थ हम उससे पाते जायेंगे। उसका अर्थ एकदम नहीं, धीरे-धीरे खुलेगा। फिर भी उसका एक अर्थ स्पष्ट है कि जब भगवान् ने इस दुनिया में मानव-समाज का निर्माण किया है, तो उसकी यह इच्छा कदापि नहीं हो सकती कि मानव का आपस-आपस में विरोध हो या एक का हित दूसरे के हित के विरुद्ध हो। कोई बाप यह नहीं चाहता कि अपने एक लड़के का हित दूसरे के विरुद्ध रहे। लड़कों में विचार-भेद हो सकता है; लेकिन हित-विरोध नहीं। भिन्न-भिन्न विचार हों, तो ऐसे अनेक विचार मिलकर एक पूर्ण विचार बन सकता है, क्योंकि किसी एक आदमी को पूर्ण विचार सूझे, यह सम्भव नहीं। एक को एक अंग सूझेगा, दूसरे को दूसरा, तो तीसरे को तीसरा। इस तरह मिलकर एक पूर्ण विचार होगा। इसलिए विचार-भेदों का होना जरूरी है। इसमें दोष नहीं, बल्कि गुण ही है, लेकिन हितों में विरोध न होना चाहिए।

स्वर्ण-माया का प्रताप

लेकिन हमने अपना जीवन ऐसा ही बना लिया है कि एक के हित में दूसरे के हित का विरोध पैदा होता है। धन आदि जिन चीजों को हम कामदायी मानते हैं, उनका संग्रह हम सामनेवाले की परवाह किये बगैर और कभी-कभी उससे छीनकर भी करते हैं। हमने प्रेम से भी अधिक कीमत धन को यानी स्वर्ण को दे रखी है। दुनियाभर में यह स्वर्ण-माया फैल गयी है। उसीका परिणाम है कि परस्पर जो मेल या समन्वय साधन होना चाहिए था, वह मुश्किल हो गया है। उस मेल की खोज में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक वाद बन गये हैं, फिर भी सबका हित सध ही नहीं रहा है। लेकिन हम एक सादी-सी बात समझ लें तो यह सब बन जायगा। हरएक व्यक्ति दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे, जिससे दूसरे को तकलीफ हो। परिवार में भी यही

सकता है। परिवार का यह न्याय समाज पर लागू करना कठिन नहीं, आसान होना चाहिए। इसीको 'सर्वोदय' कहते हैं।

सर्वोदय का सूत्र

'सर्वोदय' का यह एक बहुत ही सरल और स्पष्ट अर्थ है। हम जैसे-जैसे प्रयोग करते जायेंगे, वैसे-ही-वैसे उसके और भी अर्थ निकलेंगे। लेकिन यह उसका कम-से-कम अर्थ है। इसीसे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें अपनी कमाई का खाना चाहिए, दूसरे की कमाई का न खाना चाहिए। हमें अपना भार दूसरे पर न डालना चाहिए। दूसरे का धन किसी तरह हम ले लें, उसे 'अपनी कमाई' नहीं कहा जा सकता। कमाई का अर्थ है, प्रत्यक्ष पैदावार। यदि हम इन दो नियमों का पालन करें तो सर्वोदय-समाज का प्रचार दुनिया में हो सकेगा।

एक छोटा-सा बच्चा भी सर्वोदय-समाज का सेवक बन सकता है, अगर वह दूसरे की सेवा करता और कुछ-न-कुछ पैदा करता हो। इस तरह इस समाज के लाखों-करोड़ों सेवक बन सकेंगे। अभी तो इन सेवकों का रजिस्टर रखा जाता है, लेकिन तब ऐसी नौबत आयेगी कि किन-किनके नाम रजिस्टर में लिखे जायें, क्योंकि सारी दुनिया अपना नाम इसमें देगी। मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि ऐसा दिन शीघ्र ही आये।

राऊ (इन्दौर)
८ १ ५१

सर्वोदय-समाज : एक सहज-संगठन

हमारा यह संगठन एक ढीला-ढाला संगठन कहा जाता है। हम हमेशा अमुक विचार प्रकट करते हैं, ऐसी बात नहीं। अगर इसे 'संगठन' ही कहना हो, तो मैं 'सहज-संगठन' कहना चाहूँगा। बेहतर तो यही है कि 'यह संगठन है' यह बात हम अपने मन में ही समझें। यह कोई रचना नहीं सहज सम्पर्क है। इस पर लोग आक्षेप करते हैं कि ऐसे ढीले-ढाले संगठन से क्या होगा? मेरे ख़याल में यह आक्षेप सही भी है। अगर हम कोई यन्त्र चलाना चाहें, तो उसे कसा हुआ होना चाहिए। यदि घर्षण के डर से हम उसे ढीला रखें, तो वह यन्त्र काम न देगा यही यन्त्र-शास्त्र का सिद्धान्त है। इसलिए यदि यन्त्र चलाना है तो उसे चुस्त रखा जाय और यह ध्यान रखकर कि उसमें घर्षण होगा, उसमें स्नेहन के लिए तेल डाला जाय। अगर घर्षण के डर से यन्त्र ढीला रखेंगे तो न घर्षण होगा और न तेल की ही जरूरत होगी लेकिन साथ-साथ उस यन्त्र से काम भी कुछ न होगा। 'मास्टर मारे नहीं और पढ़ावे नहीं' (मास्टर न मारें, न पढ़ावें), ऐसी बात हो जायगी।

'सर्वोदय-समाज' के लिए किसी तरह की रचना की कल्पना नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा काम बिखरा हुआ होना चाहिए। हम जो काम करना चाहते हैं उसके लिए हमारे पास कोई संगठन नहीं है ऐसी बात नहीं। हमारे पास जो संस्थाएँ हैं और जो अलग-अलग काम करती हैं उन सबका संगठन हम करने जा रहे हैं। उसीमें से 'सर्व-सेवा-संघ' पैदा हो रहा है। हम चाहते हैं कि यही हमारे काम का यन्त्र हो और यह 'सर्वोदय-समाज' गांधी-विचार, तत्त्व-चिन्तन, तत्त्व-संशोधन और नाम-स्मरण का साधन बने। यह यन्त्र है ही नहीं। यह अनियन्त्रित विचार है जिसे हम विश्व में फैलाना चाहते हैं। जिसे विश्व में फैलाना होता है उसकी मेंड नहीं खिंच ही सकती है। इसीलिए हम उसकी मेंड नहीं बना रहे हैं। अगर हम उस पर मेंड बनायें, तो काम पक्का होगा लेकिन वह विश्वव्यापी न होगा। इसलिए हम एक तरह का काम करने के लिए पूरे रूप से सुगठित, सुसंगठित, चुस्त यन्त्र बनाने जा रहे हैं और दूसरी तरफ विश्वव्यापी चिन्तन-प्रचार के लिए एक ढीली रचना कर रहे हैं।

आपको मंजूर है, तो जो विस्तार मैं करूँगा, उसे आप उचित ही मानेंगे और इसे अप्रासंगिक बात न कहेंगे।

खादी-प्रसार में 'बुनटे' का स्थान

तीस साल के बाद भी मैं कातना नहीं जानता, ऐसा तो नहीं कहा जायगा। यद्यपि मैं खुद को उत्तम नहीं, मध्यम कातनेवाला समझता हूँ, फिर भी मेरा सूत मिल के सूत की बराबरी नहीं करता। ऐसा कच्चा सूत अधिक दाम देकर हम बुनवा तो सकेंगे लेकिन वह चीज व्यापक न होगी। उसमें बुनाई महँगी पड़ेगी और बुननेवाला भी खुशी से न बुनेगा। जब तक यह स्थिति हो तब तक लोग अगर खादी को नहीं अपनाते, तो उनका दोष नहीं। खादी को तीस साल तक मौका मिला है। अब भी अगर हम बुनकर से कह दें कि वह कच्चा सूत बुने तो वह चल नहीं सकता। एक जमाना था जब आश्रम में पावन (पाई) होती थी तो हम दौड़कर उसमें सम्मिलित होते मानो कोई त्योहार हो। पावन में टूटनेवाले धागों को हम गिनते। मुझे याद है कि वह संख्या कई हजार तक पहुँच जाती। यह १९२ की बात है। यही अगर हम १९४९ में भी करते हैं तो समझ लेना चाहिए कि यह काम चल नहीं सकता। इसलिए मैं इस निष्कर्ष पर आया हूँ कि हमें अपना सूत बुनना चाहिए, जिससे वह इतना मजबूत बने कि हम उसे खुद ही बुन सकें। जैसे हम खुद कातते हैं, वैसे ही खुद बुन भी लें तो यह काम आगे बढ़ेगा। जो लोग खुद न बुन सकें वे दाम देकर बुनवा लें। वह उन्हें सस्ता भी पड़ेगा। बुनटे सूत को बहुत से लोग तो घर में ही बुन लेंगे। यह बात आपके सामने रखना चाहता था। मेरी आग्रह है कि आप कोई भी काम क्यों न करते हों अपने आसपास खादी का वातावरण बनाइए। अगर ऐसा वातावरण न रहा तो गांधी-विचार की दृष्टि से आपका सारा काम विशेष मूल्य न रखेगा।

कर पाये, यह बड़े दुःख और शर्म की बात है। जेल में तो खास तक भंगी का काम करता रहा। परमेश्वर ने चाहा होता तो उसीको नियमित रूप से प्रार्थना की तरह करता। लेकिन वह तो देहात का भंगी-काम था, जो शहर की अपेक्षा बहुत आसान था। शहर का भंगी-काम मनुष्य के लायक ही नहीं होता। दिल्ली में भंगियों की एक सभा हुई जिसमें श्री जगजीवनरामजी का भाषण हुआ था। अपने भाषण में उन्होंने अत्यन्त समत्व-बुद्धि से भंगियों को आदेश दिया कि "तुम्हें यह काम छोड़ देना चाहिए। इसके बिना तुम्हारा उद्धार न होगा। यद्यपि मैं किसी काम को नीच नहीं मानता फिर भी इसे मनुष्य के लायक नहीं समझता। इस विचार के समर्थन में उन्होंने जो दलील दी, वह सहज समझ में आने जैसी और बड़ी मार्मिक थी। उन्होंने कहा: "आजकल की दुनिया के जमाने में हर धंधे में भीड़ लग रही है। आदमी चमड़े का काम करने लग गये हैं लेकिन क्या तुम्हारे धंधे में कभी कोई दाखिल हुआ? अगर नहीं तो समझ लो कि इतनी आपत्ति होते हुए भी जब इस काम में दूसरा कोई नहीं आ रहा है तो यह काम मनुष्य के करने लायक ही नहीं है।' फिर मेरी ओर देखकर उन्होंने पूछा: 'क्या मैं ठीक कह रहा हूँ?" मैंने कहा: "हाँ ठीक है।"

अप्पासाहब को आप जानते ही हैं। जेल में भंगी का काम मिले, इसलिए वहां उन्होंने सत्याग्रह किया था। लेकिन वे अपना अनुभव मुझे बता रहे थे कि शहर में भंगी का काम शुरू करने पर वे दो-चार दिनों में ही हार गये। ऐसा काम हम जिस तरह हैं वह उसे मजबूर करार देकर ही उससे करवा सकते हैं क्योंकि फिर उसे दूसरे धंधों में प्रवेश नहीं मिलता। इस गुलामी से तो हमें उन्हें मुक्त करना ही पड़ेगा। इसके लिए हम सबको भंगी बनना चाहिए या उस काम को ऐसा स्वरूप देना चाहिए, जिससे हर कोई कर सके। महाराष्ट्र में जलगाँव और धूलिया में शहरों के 'हरिजन-सेवक-संघ' की ओर से महीने में एक दिन भंगी का काम करना शुरू किया गया है।

अन्त्योदय सर्वोदय में समाविष्ट

आज अप्पासाहब मुझसे कह रहे थे कि "इसे 'सर्वोदय' के बदले 'अंत्योदय' कहें तो अच्छा है क्योंकि हमारे भंगी भाई सबसे आखिर के दर्जे के हैं। वास्तव

में 'सर्वोदय' शब्द का मूल अंत्योदय की कल्पना में ही है। रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' के अनुवाद को बापू ने 'सर्वोदय' नाम दिया है। सर्वोदय में सबसे नीची श्रेणीवालों अंत्यों का भी उदय है। सारी दुनिया का उदय जब होगा तब होगा लेकिन भंगी का उदय तो होना ही चाहिए। शब्द तो मैं 'सर्वोदय' रखना ही पसंद करूँगा क्योंकि सर्वोदय में अंत्योदय आ जाता है। केवल 'अंत्योदय' शब्द में भाव यह आता है कि बाकी के लोगों का उदय हो चुका है, लेकिन ऐसा नहीं है। इस अभागी दुनिया में उदय किसीका भी नहीं हुआ, अभी सभीका अस्त ही है। किसीके घर चूल्हा ही नहीं जलता तो किसीके घर के चूल्हे में रोटियाँ जल रही हैं। दोनों के चूल्हों का अस्त हुआ है और दोनों ही भूखे हैं। समाज के धनवानों का तो क्रमशः अस्त हो चुका और जो दरिद्र हैं उनका तो अस्त है ही। मुझे यहाँ तुलसीदासजी का एक भजन याद आता है। उन्होंने भगवान् से कहा है कि "प्रीति की रीति आप ही जानते हैं। आप बड़े की बड़ाई और छोटे की छोटाई दूर करते हैं। यही आपकी प्रीति की रीति है।' बड़ों की बड़ाई कायम रखना उन पर प्रीति करना नहीं। धनवालों की बुद्धि जड़ धन की संगति से जड़ और निस्तेज बन जाती है। तात्पर्य जड़ बने हुए लोगों और भूखों, दोनों का उदय होना बाकी है। इसलिए शब्द तो 'सर्वोदय' ही रहे; लेकिन फिक्र अंत्योदय की भी रहे।

अपरिग्रह की अपरिहार्यता

तीसरा विचार है अपरिग्रह का। भंगीपन की तरह हमें परिग्रह को भी मिटाना है। यह अपरिग्रह व्रत से ही हो सकता है। सुबह बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने बताया कि 'कुछ लोग अपरिग्रह का विचार रखते हैं तो कुछ लोग अपहरण का। अपहरणवादी कहते हैं कि अपने विचार का कुछ तो नमूना हमने एक देश में कर भी दिखाया पर हम नहीं समझते कि आपका अपरिग्रह-विचार कभी चल सकेगा। ये क्या कहते हैं सो हम छोड़ दें। लेकिन हमारे देश की हालत ऐसी है कि अगर हम अपरिग्रह व्रत पर अमल न करें तो संघर्ष टल नहीं सकता। मैंने अजमेर में देखा कि मारवाड़ियों और सिन्धी शरणार्थियों के बीच द्वेष भावना भरी है। अब वह कम हो रही है क्योंकि सिन्धी व्यापारी यहाँ से हट रहे हैं।

मैंने वहाँ कहा था "जब तक हिंदुस्तान की आज की गरीबी कायम रहेगी, अन्न की पैदावार न बढ़ेगी तब तक यहाँ द्वेष का यह ज्वर किसी-न-किसी रूप में कायम ही रहेगा। कभी हिंदू-मुसलमानों, कभी ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरों, तो कभी सिंधियों और मारवाड़ियों के बीच झगड़े होते ही रहेंगे। झगड़े न मिटेंगे और न हिंसा ही रुकेगी।" गणित-प्रेमी होने के कारण गणित की भाषा में, लेकिन कुछ उलटे शब्दों में मैंने कहा कि 'अगर आज की स्थिति में हिन्दुस्तान के लोग थोड़ा-सा सुख चाहते हों तो दस करोड़ को खतम कर देना चाहिए, तभी बची हुई सामग्री में बाकी के लोगों को आधिभौतिक सुख मिलेगा।'

अपरिग्रह की कसौटी क्या ?

तात्पर्य, शरीर-श्रम के साथ अपरिग्रह-व्रत और अपरिग्रह के साथ शरीर-श्रम दोनों एक-दूसरे के साथ आते हैं। एक ही चीज के ये दो पहलू हैं। गत वर्ष अपरिग्रह पर बात चलती रही। पूछा गया था कि किसकी कितनी जरूरत है यह कौन तय करे? तब मैंने कहा 'जिसका वही तय करे। हमारे पास धन न होनेमात्र से हम अपरिग्रही नहीं बन जाते। हमारे पास दूसरा भी संग्रह पड़ा होगा। पैसे नहीं तो ऐसी पुस्तकें होंगी, जिनकी कभी कोई जरूरत पड़े, बाकी हमेशा आलमारी में बन्द ही पड़ी रहती हों। यह भी एक तरह का परिग्रह ही है।' इस तरह हमें अपने जीवन का शोधन करना चाहिए।

परोपकारी संस्थाओं का परिग्रह

परिग्रह का एक दूसरा भी पहलू है। हम यह मान बैठे हैं कि खुद के लिए हम परिग्रह न करें, लेकिन संस्थाओं के लिए कर सकते हैं। हिंसावादी एक व्यक्ति के लिए हिंसा करना उचित नहीं मानता, लेकिन समाज और राष्ट्र के लिए हिंसा करने में पाप भी नहीं समझता। हम भी संस्था के लिए परिग्रह क्षम्य मानते हैं। मैं एक और मिसाल दूँ। चरखा-संघ का पैसा बैंक में पड़ा रहता है, जिसका ब्याज उसे मिलता है। सोचने की बात है कि ब्याज मिलता कहाँ से है? वह पैसा दूसरे धन्धों में लगाया जाता है, इसलिए ब्याज मिलता है। चरखे के लिए निकाली हुई रकम गो-सेवा-जैसे अच्छे काम में नहीं लगायी जा सकती, यह मर्यादा हम मानते हैं और वह ठीक भी है। लेकिन बैंकों में रखी हुई रकम

दूसरे धन्धों में लगायी जा सकती है और लगायी भी जा रही है। यह एक बड़ी आपत्तिजनक बात है। यह धन-लोभ ही है, भले ही वह संस्था के नाम से ही क्यों न हो। इसी तरह हमने कस्तूरबा स्मारक-कोष में धन इकट्ठा किया और गांधी-स्मारक-निधि के लिए इकट्ठा कर रहे हैं। आखिर इतने पैसे की जरूरत ही क्या है? और अगर है भी तो साल-दो साल में खर्च कर उसे खतम क्यों नहीं कर दिया जाता? पर यह जमता नहीं और बैंक में पैसा रखकर ब्याज लेने की बात भी हमें चुभती नहीं। उसमें हम दोष ही नहीं देखते, कारण हम रहते ही ऐसे समाज में हैं जहाँ ब्याज न लेना मूर्खता माना जाता है। गीता में कहा गया है कि सब प्रकार का परिग्रह छोड़ दो 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः'। अगर हम परोपकार के लिए भी परिग्रह का मोह रखते हैं तो वे सारे दोष हमारे काम में आ जायंगे जो किसी सांसारिक परिग्रही के काम में आते हैं।

कंट्रोल का हल : अन्न के रूप में लगान

चौथी बात है, कण्ट्रोल आदि प्रश्नों की। आजकल सब जगह बहुत तंगी है, तकलीफ है। कण्ट्रोल फिर से लगे तब भी तकलीफ है और वे उठे, तब भी तकलीफ थी। दोनों ओर से कष्ट ही है। मैंने इस मसले पर बहुत कुछ विचार किया। इन दिनों मैं घूमता रहता हूँ और परिस्थिति देखता रहता हूँ। देखने से मनुष्य को कुछ-न-कुछ सूझता ही है। मुझे मौका मिला तो कार्यसमिति की बैठक और राजघाट की प्रार्थना-सभा में भी अपने विचार पेश किये। मैंने कहा कि 'अगर हम जमीन-महसूल अनाज के रूप में लें, तो यह समस्या कुछ हल हो सकती है। कपड़े का प्रश्न खादी से हल हो सकता है। अगर आपको यह सुझाव ठीक जँचे तो इसके अनुकूल अपनी राय जाहिर करें। यदि यह मृग-मरीचिका प्रतीत हो तो इसे छोड़ सकते हैं।”

सर्वोदय-सम्मेलन राऊ
७-३ ४९

सर्वोदय समाज का स्वरूप

७

जब मुझे बताया गया कि आप लोग सर्वोदय के बारे में जानना चाहते हैं तो मैंने सोचा आपसे जरूर मिलना चाहिए और बातें करनी चाहिए, क्योंकि सर्वोदय की दृष्टि के बिना हम ठीक सेवा कर ही नहीं सकते। सर्वोदय-दृष्टि के बिना की गयी सेवा या तो किसी पक्ष-विशेष की होगी या कुछ की। वह सच्ची सेवा न होगी। इसलिए सेवा की दृष्टि समझ लेना जरूरी है।

सर्वोदय-समाज क्यों ?

गांधीजी की मृत्यु के बाद सेवाग्राम में सभा हुई थी। वहाँ भविष्य के काम के बारे में विचार विनिमय हुआ। सोचा गया कि गांधीजी के बाद क्या हम कोई नयी संस्था शुरू करें ? क्या गांधी-संघ ही बनाया जाय ? किन्तु यह कल्पना किसीको पसन्द नहीं आयी। हिन्दुस्तान में प्राचीन काल से व्यक्तिवाद को स्थान ही नहीं है। पश्चिम में यह परम्परा से चलता है। वहाँ वैज्ञानिक आसमान में कोई नया तारा ढूँढ़ ले तो उसीका नाम उस तारे को दिया जाता है, पर हिन्दुस्तान की संस्कृति में ऐसी बात नहीं। भारतीय विचार को ही अधिक महत्त्व देते हैं। संस्कृत-साहित्य पर यह आक्षेप किया जाता है कि उसमें स्पष्ट इतिहास नहीं है। आक्षेप सही है, क्योंकि जो लोग शंकर-जैसा महान् भाष्य लिख सके और भागवत-जैसे ग्रन्थ निर्माण कर सके, क्या वे इतिहास न लिख सकते थे ? लेकिन उन्होंने उसे इसीलिए नहीं लिखा कि वे व्यक्ति नहीं, विचार को महत्त्व देते थे। इसलिए हमने भी सेवाग्राम की उस सभा में तय किया कि अपनी संस्था को किसी व्यक्ति का नाम देना ठीक न होगा। इसलिए 'गांधी-संघ' आदि जैसे नामों के बदले 'सर्वोदय-समाज' ही नाम रखा गया।

संस्था के नाम के सम्बन्ध में एक बात और है। नाम 'सर्वोदय-संघ' नहीं 'सर्वोदय-समाज' रखा गया है। अगर 'संघ' नाम रखा जाता तो वह

पार्टी-सी संस्था बन जाती। फिर उसमें कोई लिया जाता तो कोई न भी लिया जाता। उसके नियम बनते, अनुशासन रखा जाता और उसे न माननेवालों के विरुद्ध अनुशासन-भंग की कार्रवाइयाँ होतीं। संघ तो एक ऐसी संस्था है, जिसमें विशिष्ट व्यक्तियों को ही अवसर मिलता है। उसमें वह व्यापकता और स्वतन्त्रता नहीं होती जो मनुष्य के विकास के लिए जरूरी है।

'सर्वोदय' यानी सबका उदय। किसीका उदय और किसीका अस्त, ऐसी बात नहीं। 'सर्वोदय' शब्द बहुत अच्छा है और गांधीजी ने ही उसे गढ़ा है। प्रथम 'सर्वभूतहिते रताः' की कल्पना गयी है। 'बाइबिल' में भी यह विचार आता है। 'रस्किन' ने उसीका आधार लेकर अपनी 'अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक लिखी है। उसका मतलब है कि पहले दरवाजे जितनी ही आखिरी दरवाजे की भी रक्षा। परमेश्वर के यहाँ 'हाथी को मन, तो चींटी को भी कन' मिलता ही है। सेवक को भी ऐसी ही दृष्टि रखनी चाहिए।

निष्ठा और कार्यक्रम

इस तरह सबके सामने हमने एक विचार रख दिया। और फिर निष्ठा भी बता दी कि हमें वर्गहीन समाज कायम करना है, जो सत्य और अहिंसा के द्वारा ही बनेगा। इस तरह प्रतिज्ञापत्र होने पर एक कार्यक्रम भी बनाया गया—खादी, नयी तालीम, प्राकृतिक चिकित्सा, स्त्रियों की सेवा आदि बातें बता दीं और बाकी का सब लोगों पर छोड़ दिया।

समाज के सेवकों की मर्यादा

सर्वोदय-समाज का सेवक क्या करता है और क्या नहीं करता, यह सब नहीं जानता है। मैं या समाज उसके बारे में न्याय करते न बैठेंगे। वह स्वतन्त्र है चाहे तो अकेला काम करे, चाहे संस्था बनाकर। उम्र की भी कैद नहीं रखी गयी है। एक भाई ने मुझसे पूछा कि "क्या आठ साल के बच्चे को भी आप सर्वोदय-समाज में लेंगे?" मैंने कहा : "मैं लेनेवाला कौन हूँ और जब भगवान् ही उसे ले ले तो मैं इनकार करनेवाला भी कौन हूँ? जनगणना में छोटे बच्चों को थोड़े ही छोड़ देते हैं? छोटे बच्चे भी बहुत-सा काम कर सकते

है। अगर कोई बच्चा अपनी गली साफ करता और खेल में भी झूठ नहीं बोलता तो कहना होगा कि उसने सर्वोदय-समाज का बड़ा काम किया।'

एक भाई ने पूछा : "क्या सर्वोदय-समाज का सेवक सिपाही के नाते लड़ाई में शरीक हो सकता है?" दूसरे ने पूछा : "क्या शराबी भी सर्वोदय-समाज में हो सकता है?" मेरा जवाब है कि अगर कोई शराबी भी है और सच्चे दिल से कोशिश कर रहा है, तो वह भी सर्वोदय-समाज का सेवक हो सकता है। उसकी कोशिश कैसी है या नहीं इसका फैसला भी वही करेगा, मैं नहीं।

कुछ लोग पूछते हैं : 'बिना संगठन के काम में जान कैसे आयेगी?' सवाल ठीक है, लेकिन उसमें भ्रम है। एक ईसाई भाई मुझसे सेवा के बारे में मार्गदर्शन चाहता था। मैंने छोटे-मोटे कुछ सुझाव देकर अन्त में उससे कहा "डोन्ट ऑर्गनाइज" (संगठन मत बनाओ)। उसने बताया : 'संत फ्रांसिस भी यही कहता था।"

आजकल जो उठता है वह अपना अखिल भारतीय संगठन करना चाहता है। हमारे वर्धा में मातंग (मांग) जाति की अखिल भारतीय परिषद् हुई। वैसे यह जाति केवल महाराष्ट्र में ही है और उस सभा में तो वर्धा के इर्द-गिर्द के ही लोग इकट्ठा हुए थे। फिर भी उसे उन्होंने 'अखिल भारतीय' कहा। मैं पूछता हूँ "अखिल विश्व ही क्या नहीं कहते?" लेकिन आजकल जो काम शुरू होता है, अखिल भारतीय नाम से ही शुरू होता है। फिर विभिन्न प्रान्तों में उसकी दस-पाँच प्रांतीय शाखाएँ खोल दी जाती हैं। फिर इन की सौ भिन्न-शाखाएँ हो जाती हैं। लेकिन पत्थर के कितने भी टुकड़े किये जायँ तो भी उसमें से आटा थोड़े ही निकलेगा! उन टुकड़ों में प्राण कौन लगायेगा! जहाँ शासन का संगठन बढ़ता है, वहाँ सेवा का नाम तक नहीं रहता। यह पद्धति ही गलत है।

अगर सर्वोदय-समाज की स्थापना करनी हो, तो शुरू से ही आरम्भ करना चाहिए। इसमें अगर द्वेष या मत्सर हो, तो उसे दूर कर देना चाहिए। जिसके प्रति द्वेष-मत्सर हो, उसके पास जाकर उससे दोस्ती कर लेनी चाहिए। इस तरह सर्वोदय-समाज का काम व्यक्तिगत तौर पर शुरू हो सकता है। पर धीरे-धीरे दो चार मित्र तैयार हो जाते हैं और सारी बस्ती या गाँव तैयार हो जाता है। ऐसे

दो-चार गाँव मिल जायें तो काम बढ़ सकते हैं। धीरे धीरे सारा विश्व और सारा ब्रह्माण्ड भी व्यवस्थित हो सकता है। तभी यह संगठन मूल से अन्तःप्रेरणा से और स्वाभाविक रूप से हुआ समझा जायगा। हमें समाज में ऐसी स्थिति कायम करनी है, जिससे उसकी अन्तःशुद्धि हो। जगह-जगह पड़े रत्नों को एक सूत्र में पिरोना सरल है लेकिन माला के लिए पहले रत्न ही चाहिए, सूत्र नहीं। इसलिए पहले यही देखा जाय कि किस तरह जगह-जगह सर्वोदय-मनोवृत्ति के लोग निर्माण हों।

सभी मेरे और मैं सबका[1]

यदि हम केवल विचार देने के बजाय संगठन करने बैठें तो हमारे संगठन में शरीक होनेवाले ही हमारे रहेंगे। पर मुझे ऐसा नहीं चाहिए। जो खादर पहनता है और नहीं भी पहनता, जो शराब पीता और नहीं भी पीता, वे सभी मेरे हैं और मैं उनका हूँ। उनके साथ एकरूप होना चाहता हूँ। संगठन से यह संभव नहीं। यह मैंने अपने जेल के अनुभव से पहचाना। नर्मदा और गंगा के सभी पत्थर समान ही होते हैं। भले ही आप नर्मदा के पत्थर को शंकर कहें लेकिन कहनेभर से कुछ नहीं होता। मैंने जब यह महसूस किया, तो बाहर आने पर निश्चय किया कि मैं किसी संस्था का सदस्य न रहूँगा। उससे मैंने अपने भीतर एक अद्भुत शक्ति का अनुभव किया। संस्था में रहता तो मैं किसी कोने में पड़ा रहता, भले ही वह आश्रम ही क्यों न हो। आज मैं अपने को दुनिया के मध्य पाता हूँ।

संस्था व्यवस्थामात्र के लिए

इसका यह अर्थ नहीं कि संस्था बनानी ही नहीं चाहिए। जरूरत पड़ने पर सर्वोदय-समाज के लोग छोटी-सी संस्था बना सकते हैं। लेकिन ऐसी संस्था संगठन नहीं, बल्कि एक व्यवस्थामात्र होगी जैसे किसी परिवार में होती है। ऐसी संस्था में चार-छह कार्यकर्ता साथ रहकर काम कर सकते हैं। आपस में मिलकर काम करने के लिए किसी एक गुण की आवश्यकता पड़ती है और वह गुण है सत्य और अहिंसा।

[1] यंगमेन्स क्रिश्चियन असोसिएशन, दिल्ली
१ १ ५२

सर्वोदय की बुनियाद : सत्यनिष्ठा   ८

आप जानते हैं कि आजकल सर्वोदय-समाज की कल्पना चल पड़ी है। लोग मुझसे पूछते हैं कि "आप किस प्रकार इस समाज की संघटना करने जा रहे हैं?" मैं जवाब देता हूँ कि 'देश में आज कई संस्थाएँ हैं। उनमें और एक संस्था बढ़ाना मेरा काम नहीं। चाहता यही हूँ कि जीवन को दिशा देनेवाला एक विचार अपने जीवन में दाखिल करें और दूसरे भाई-बहनों को भी उसे समझायें। यदि वह विचार एक-एक व्यक्ति के जीवन में दाखिल हो जाय तो भाग जैसा अपने-आप फैल जायगा। उसके बदले यदि संस्था खड़ी की जाय तो उसमें स्पर्धा, अभिनिवेश आदि दोष आने की सम्भावना रहती है। मैं उससे बचना चाहता हूँ। समाज अच्छी तरह संगठित होना चाहिए। परिवार में समाज-निष्ठा से जुड़ा एक समाज रहता है पर वह सहज बना होता है। हमें वैसा ही समाज चाहिए। फिर भी उस परिवार में अपने परिवारभर को ही देखने की वृत्ति रहती है इसलिए उसमें संकुचितता आ जाती है। स्वजन में उतना अंश छोड़ दें और सहकार्य का ही अंश लें तो आप मेरी कल्पना समझ जायेंगे।

एक-दूसरे को मनुष्यता के नाते देखें

मैं मानता हूँ कि जब लोग धार्मिक बन्धनों के कारण एक जगह आते हैं तो उनकी कल्याण करने की शक्ति नहीं बढ़ती। जब वे सहज भाव से एकत्र होते हैं, एक सम्प्रदाय को गौण समझते हैं, मत की अपेक्षा मनुष्य को अधिक महत्त्व देते हैं, बाह्य कर्म की अपेक्षा आन्तरिक वृत्ति को बड़ा मानते हैं और मनुष्य को मनुष्य के तौर पर पहचानते हैं, तभी उनकी कल्याण करने की शक्ति बढ़ती है। मैंने यहाँ कई संस्थाएँ देखी हैं, जिनका आरम्भ तो सदुद्देश्य से हुआ, लेकिन आगे उनके कार्यों से ही दोष उत्पन्न होने लगे। फिर उन दोषों का बचाव किया जाता है। वे छिपाकर भी रखे जाते हैं। फिर वृत्ति बदल जाती और टुकड़े होने लगते हैं। मुझे टुकड़े नहीं चाहिए

अक्षय आनन्द का अनुभव लेना है। वह भी केवल मानसिक नहीं, क्योंकि वह मैं ले ही रहा हूँ, अत्यन्त क्रियात्मक। इसलिए कोई किसी भी धर्म या पन्थ का हो, मैं हरएक को मनुष्य के नाते देखना चाहता हूँ। वह भी मुझे वैसा ही देखे, तभी कल्याणकारी सेवा होगी। मेरी यही इच्छा है कि मनुष्य के हाथों विश्व कल्याणकारी सेवा हो।

सर्वोदय-समाज की कल्पना क्या है? मैं सबमें हूँ और मुझमें सभी हैं। इसलिए मैं अपने निजी जीवन में, व्यापार-व्यवसाय में, सामाजिक जीवन में और हर जगह असत्य का व्यवहार नहीं कर सकता, क्योंकि अगर सब जगह मैं ही हूँ तो असत्य कैसे काम देगा? कैसे और किससे छिपा सकेंगे? जिससे छिपाना है वह भी मैं ही हूँ न!

यह महान सत्यनिष्ठा ही सर्वोदय की बुनियाद है। कुछ लोग कहते हैं कि 'इस निष्ठा से सर्वोदय-समाज में अधिक लोग न आयेंगे।' मैं कहता हूँ कि ऐसा कहनेवाला भगवान् की जगह लेना चाहता है, पर मैं नहीं ले सकता। आखिर सभी मानवों में शुभ प्रेरणा क्यों पैदा न होगी? होगी ही, ऐसी मैं आशा रखूँगा। लेकिन मान लीजिये कि वैसी प्रेरणा किसीको भी न हुई और सर्वोदय-समाज ख्याल में ही रह गया, तब भी यह व्यापक कल्पना विश्व-कल्याण करेगी। इसके विपरीत सत्यनिष्ठा-विहीन बहुत बड़ी संख्या किसी समाज में शामिल हुई, तो भी विश्व-कल्याण की दृष्टि से उसका तनिक भी उपयोग न होगा।

गांधी-तत्त्वज्ञान मन्दिर, धूलिया

१

आजकल दुनिया की अवस्था बहुत ही सोचने लायक है। जिधर देखो, उधर अशान्ति और झगड़े चल रहे हैं। मजदूरों और मालिकों का झगड़ा पूर्ववत् जारी है। चीन में गृह-युद्ध चोटी तक पहुँच गया है। डचों ने हिन्द-एशिया के स्वातन्त्र्यवादियों पर पुनः हमला किया है। ये सब नये-नये झगड़े उठने के साथ ही पुराने झगड़ों की याद भी ताजी की जा रही है। उधर जापान में अपने मंत्रियों को युद्धापराधी समझकर फाँसी पर चढ़ाने का नाटक चल रहा है मानो युद्धापराधी ये जापानवाले ही थे और उन्हें फाँसी पर चढ़ानेवाले थे सभी शांति के दूत ही हैं या उन्हें फाँसी पर चढ़ाने से दुनिया में शांति स्थापित होनेवाली है।

कश्मीर का प्रश्न

यहाँ हिन्दुस्थान में भी कश्मीर के मामले में हिंसा का आश्रय लेना पड़ा है। उसमें किसका कितना दोष है यह अलग बात है पर अहिंसा से कश्मीर का मामला तय नहीं हो सका यह दुःख की बात है।

मानसिक एकता की कमी

यों हिन्दुस्तान में इस समय राजनीतिक एकता तो बन रही-सी दीखती है। यहाँ छोटे-छोटे राज्य मिलकर विशाल राज्य-संघ बन रहे हैं। लेकिन राजनीतिक एकता से भी बढ़कर जो मानसिक एकता है, वह उतनी नहीं दीखती। मैं बहुत मिसालें नहीं दूँगा। हमने मध्यभारत का एक प्रान्त तो बना लिया है लेकिन वहाँ 'इन्दौर और ग्वालियर-वाद' चल रहा है। हैदराबाद का मामला कुछ हल होने पर है तो वहाँ भी [illegible] शुरू हो गये हैं।

अनाग्रह-वृत्ति की आवश्यकता

इस तरह आज भेद-बुद्धि जोर पकड़ रही है। विद्यार्थियों का अलग-अलग जमात में बँटने के लिए तरह-तरह की शक्तियाँ काम कर रही हैं मानो भिन्न-

भाइयों ही हों। मजदूरों के मामले में भी भेद-बुद्धि बढ़ रही है और मामला सुलझने के बजाय उलझ ही रहा है। भाषावार प्रांत रचना का सवाल सीधा सादा सवाल था, पर उसे भी हम न सुलझा सके। किसीको यह नहीं सूझा कि सामनेवाला जो कहता है उसे मंजूर कर लिया जाय। इस भाषा के दो-चार लाख लोग उस भाषा के प्रांत में चले जायँ तो उससे क्या हानि होगी? जब कि हमने सारी सत्ता केन्द्र को सौंप दी तो साधारण सीमा जो दूसरे को मान्य हो, कबूल करने में कौनसा नुकसान है? लेकिन यह होता नहीं दीखता। आग्रह के कारण प्रश्न हल नहीं हो पाते और फिर कमीशन और कमेटियाँ बैठाने की नौबत आती है। 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' का झगड़ा केवल नाम के लिए हो रहा है। अब तो उसमें कोई खास सवाल ही नहीं है। कोई नहीं सोचता कि आखिर राष्ट्रभाषा किसलिए है? इसीलिए न कि देश में एकता कायम हो? फिर जो चीज हमने एकता के लिए निकाली है उसीमें झगड़ा क्यों? लेकिन आग्रह नहीं छूटता। यह समझ में नहीं आता कि आग्रह की शक्ति भी सीमित होती है और जब छोटी चीजों में वह खत्म हो जाती है तो बड़ी चीजों के लिए बच नहीं पाती। ईसामसीह का एक वचन मुझे इस समय याद आ रहा है और कल ही क्रिसमस का दिन है इस लिहाज से भी यह वचन चिन्तनीय है: 'ऐग्री विद दाइन एडवरसरी क्विकली' यानि अपने विरोधी की बात फौरन मान लो।

निराश मत होइए!

लेकिन दुनिया में यह भी नहीं हो रहा है। यह सारा बयान मैं इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि आपके चित्त पर निराशा अंकित करूँ। मैं निराशावादी नहीं क्योंकि मैं जानता हूँ कि मानव की आत्मा परम शांत और भेदरहित है। यह जो अशान्ति और भेद का आभास हो रहा है वह उसकी परम शांति की तुलना में नगण्य है। फिर भी स्वच्छ कपड़े पर जरा-सा धब्बा भी ध्यान खींच लेता है। जब जागतिक युद्ध चल रहा था तब भी मैं निराश नहीं था। मैं तो यही मानता था और मानता हूँ कि आध्यात्मिक महायुद्ध ईश्वरीय होते हैं और कुछ दुःख देकर ही क्यों न हो मानव की उन्नति के लिए ही होते हैं। मैं यह

भी मानता हूँ कि ऐसे महापुरुष मशाल आसमान के एक कोने में चमका करते हैं आज दीख पड़ते हैं तो चंद दिनों बाद खतम भी हो जाते हैं।

आज मैंने जो बहुत-सी बातें बतायीं वे चिंतन के लिए हैं न कि निराश होने के लिए। जब मैं चिंतन करता हूँ तो इन सबमें एक मुझे सर्वोदय-समाज की कल्पना में दीख पड़ता है। लोग मुझसे पूछते हैं, "सर्वोदय-समाज की संघटना किस प्रकार की है?" मैं कहता हूँ, 'वह कोई संघटना नहीं एक क्रांतिकारी शब्द है। उस पर हम सोचें और अमल करें, तो मार्ग मिल जायगा।"

सर्वोदय के लिए जरूरी बातें

पश्चिम के लोगों ने हमारे सामने यह ध्येय रखा है कि 'अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक सुख हो'। वास्तव में इसीमें बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों के झगड़ों का बीज निहित है। लेकिन सर्वोदय की दृष्टि, जैसा कि गीता ने कहा है, सर्वभूतों के हितों में रत होने की है। उसके लिए हम सबको सत्य अहिंसा की निष्ठा बढ़ानी है। अपने निजी और सामाजिक जीवन में तथा व्यापार उद्योग आदि में कभी असत्य का उपयोग नहीं करना है। जहाँ तक हो सके, हिंसा का प्रवेश न होने की कोशिश करनी है और समाज के उत्थान के लिए जो विविध रचनात्मक कार्यक्रम बताया गया है, उसमें से जिससे जितना बन सके करना है—व्यक्तिगत तौर पर, मित्रों को साथ लेकर और जरूरत पड़ने पर स्थानिक संस्था बनाकर। उसके पीछे जो महान दृष्टि है उसका विचार करना है और उसीका प्रचार यानी जप भी करते रहना है।

अगर हम नवयुवकों और सबका ध्यान इस महान् विचार की ओर खींच सकें तो मैं मानता हूँ कि इसीमें से दुनिया की बहुत सारी समस्याओं का हल निकल सकता है। नहीं तो केवल राजनीतिक तरीकों से जो आजकल दुनिया भर में आजमाये जा रहे हैं कुछ न होगा।

राजघाट, दिल्ली
२१-११-४९

'सर्वोदय' एक क्रांतिकारी शब्द

हिन्दुस्तान के समुद्र में यह प्रदर्शनी एक बिन्दुमात्र है। लेकिन यह अमृत-बिन्दु है जो ग्रामीण जनता के लिए जीवनदायी है। मेरे लिए तो इस कांग्रेस में यही एक आशा का स्थान है। इसके पीछे अनेक कार्यकर्ताओं का परिश्रम रहा है। हिन्दुस्तान के हर हिस्से से रचनात्मक काम करनेवाले ५ भाइयों ने आकर यहाँ काम किया है और अपनी बुद्धि तथा शक्ति लगाकर यह प्रदर्शनी सजायी है।

छह महीने पहले की बात है। वर्धा में एक सभा हुई थी जिसमें यहाँ की सभी संस्थाओं के लोग इकट्ठे हुए थे। वहाँ चर्चा चली कि इन संस्थाओं द्वारा हम देहात का काम तो चलाते ही हैं लेकिन साथ-साथ देहातों में घूमने का सिलसिला भी जारी रखना चाहिए। हममें से कुछ लोगों को उसमें लग जाना चाहिए। लेकिन अभी तक वह नहीं बन सका, क्योंकि सभी अपने-अपने काम में ऐसे व्यस्त थे कि उससे वे अपने को मुक्त ही न कर पाये। लेकिन वे ही लोग अपनी संस्था में यहाँ आकर काम कर रहे हैं। यहाँ के काम से अपने को मुक्त करके ही वे आये हैं। इसी पर से आप समझ सकते हैं कि उन्होंने इस काम को कितना महत्त्व दिया है। आशा करता हूँ कि दर्शक उनके श्रम को सफल बनायेंगे। वे इस प्रदर्शनी का बारीकी से अध्ययन करेंगे और अपने जीवन में उसका उपयोग कर लेंगे।

वास्तविक शंका

यहाँ स्वभावतः पूछा जा सकता है कि आशा रखना एक बात है और समुचित अपेक्षा रखना दूसरी बात। दो-चार दिनों के लिए हजारों लोग यहाँ आये और यहाँ उनकी दृष्टि से बहुत-सी चीजें सिर्फ गुजरें, वहाँ कोई अध्ययन की अपेक्षा कैसे कर सकता है? मैं मानता हूँ कि इस आक्षेप में सचाई है। यद्यपि लाखों की दृष्टि से चीजों का गुजरना भी एक काम की बात है फिर भी श्रम के

हिसाब से काम कम ही होगा, यह तो मानना ही होगा। लेकिन प्रदर्शनी में काम करनेवालों ने कर्मठ बुद्धि से उत्साहपूर्वक काम किया है। मैं तो गाफिल रहा, इसलिए शक्ति-संचय के ख्याल से मैंने आज तक ऐसे प्रदर्शनों में भाग नहीं लिया। इस बार आग्रहवश आ गया हूँ।

सर्वोदय का क्रान्तिकारी अर्थ

लेकिन एक दूसरी चीज है जो यहाँ मुझे खींच लायी। वह है, आपका रखा हुआ इस प्रदर्शनी का 'सर्वोदय' नाम। आप जानते हैं कि गांधीजी के निर्वाण के बाद सर्वोदय समाज की कल्पना लोगों में फैल गयी है। जहाँ जाता हूँ, लोग पूछते हैं कि यह सर्वोदय-समाज क्या है और उसकी संस्था कैसी है? मैं उन्हें समझाता हूँ कि यह संस्था नहीं एक महान् क्रान्तिकारी शब्द है। महान् शब्दों में जो शक्ति भरी रहती है वह किसी संस्था में नहीं। शब्द तारक होते हैं और मारक भी। शब्दों से उत्थान होता है और पतन भी। ऐसे ही एक महान् शब्द का हमने उपयोग किया है। वह शब्द क्या कहता है? हमें चन्द लोगों का उदय नहीं करना है, अधिक लोगों का उदय भी नहीं करना है, अधिक-से-अधिक लोगों के उदय से भी हमें सन्तोष नहीं है, सबके उदय से ही हमें समाधान होगा। छोटे-बड़े, दुर्बल-सबल, जड़-बुद्धिमान् सबका उदय होगा तभी हम चैन लेंगे। ऐसा विशाल भाव यह शब्द हमें दे रहा है।

प्रदर्शनी में क्या देखें?

इस दृष्टि से इस प्रदर्शनी को देखें तो यहाँ बहुत-सी चीजें सीखने को मिलेंगी। यहाँ खादी-विभाग में ऐसे छोटे-छोटे औजार हैं जिनसे कपास से लेकर कपड़ा बुनने तक का काम किया जा सकता है। उनमें तेल का भी उपयोग करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। नयी तालीम का विभाग देखने से पता चलेगा कि बच्चे बेकार नहीं, खेल के समय सेवक बन सकते हैं। यहाँ पर ग्रामोद्योग देखने को मिलेंगे जो आसानी से हर देहात में फैल जा सकते हैं। देहात के लिए उपयोगी यन्त्रों के अनेक नमूने रखे गये हैं जिनसे गाँव की आरोग्य-रक्षा के साथ-साथ मकानों की स्वच्छता और देश की उन्नति भी बढ़ेगी।

पड़ रही है, मत्सर-बुद्धि का जोर है और सत्य का कोई ख्याल नहीं किया जा रहा है। मैं किसीको दूषण देने की दृष्टि से नहीं बोल रहा हूँ। अपने को कांग्रेस का एक अदना सेवक मानता हूँ। मैंने अपना स्थान तो कांग्रेस में कहीं भी नहीं रखा लेकिन जब कभी कांग्रेस ने मदद चाही, मैंने सेवा दी इसलिए यह सब मैं दुःख के साथ कह रहा हूँ। हम यहाँ आते हैं तो हममें यह हिम्मत होनी चाहिए कि कांग्रेस पर हम अपना रंग चढ़ायेंगे। वैसे तो सारे देश को हमें आत्मसात् करना है। कांग्रेस में ही नहीं और भी जहाँ कहीं प्रवेश मिले हमें जाना चाहिए और अपने विचार और आचार लोगों के सामने रखने चाहिए। लोगों को लेना होगा उतना ले लेंगे। नारद जैसे देवों के पास पहुँचता दानवों के बीच जाता और मानवों में घूमता था, वैसे हर जमात और हर जगह, जहाँ मौका मिले जाने की हम हिम्मत रखें तो उसमें हमारा और देश का भी भला है। हम किसी संस्था के आश्रित नहीं रहना चाहते। वैसे ही हमें सत्ता की ओर भी नहीं देखना है।

विचार का प्रचार सत्ता के जरिये नहीं होता

किसी भी क्रान्तिकारी विचार का प्रचार सत्ता के जरिये नहीं हुआ है। बहुत हुआ तो सत्ता लोगों को कुछ सुख पहुँचा सकती है, उससे इससे अधिक आशा नहीं करनी चाहिए। हमारे देश में भगवान् बुद्ध ने लोगों को क्रान्तिकारी विचार दिये लेकिन उसमें उन्हें राज्य-सत्ता का उपयोग नहीं, त्याग करना पड़ा था। गांधीजी ने भी विचारों के प्रचार के लिए राज्य नहीं चाहा। उन्होंने तो 'स्वराज्य' चाहा था। स्वराज्य मानी जहाँ हरएक अपना राजा हो जाता है अर्थात् जहाँ राज्य-सत्ता क्षीण हो जाती है—सत्ता के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह जाता। वह स्वराज्य तो हमें हासिल करना अभी भी बाकी है। इसलिए हमें सत्तानिरपेक्ष और आत्मनिष्ठ बनकर काम करना सीखना चाहिए।

प्रदर्शनी का सबसे बड़ा लाभ समग्र दृष्टि

मैं इस प्रदर्शनी को एक दूसरी ही दृष्टि से लाभ देखता हूँ। यहाँ करीब कार्यकर्ता महीनों से काम कर रहे हैं। वे अपनी-अपनी संस्थाओं में अलग

अलग प्रकार का काम किया करते थे, किन्तु यहाँ उन्हें समग्र दृष्टि से एकत्र काम करने का मौका और शिक्षण मिला है, परस्पर सहकार का पाठ मिला है। उसके परिणामस्वरूप अगर वे प्रेम का परिपोष करेंगे, अहिंसा और सत्य की निष्ठा बढ़ायेंगे, तेजस्वी बुद्धिमान् और आत्मनिष्ठ बनेंगे तो इस प्रदर्शनी का अधिक से-अधिक लाभ हुआ, ऐसा मैं मानूँगा।

सर्वोदय-प्रदर्शनी गांधीनगर जयपुर
१४-१२ ४८

उसका यश अगर रामचन्द्रजी के यश से भिन्न रहता तो उसे वैसी धन्यता नहीं मालूम पड़ती। यही हालत गांधीजी के विषय में महादेवभाई की थी। ज्ञानदेव का भी वचन है : 'मावळो अरो मेरी कीर्ति मासो नाम रूप लोपो' (मेरी कीर्ति न रहे मेरा नाम-रूप मिट जाय)। महादेवभाई की भी यही वासना थी। इसलिए उनका स्मारक बनाते समय उन्हींके नाम को प्रधानता देने की बुद्धि सर्वोंको नहीं हुई और 'गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर' नाम से इस स्मारक की स्थापना हुई। उसीकी छाया में बैठकर हमारी यह प्रार्थना हो रही है।

जिन भूमियाचार्यों ने यह मन्दिर बनाया उन्होंने एक बड़ी जिम्मेवारी उठायी है। उसका परिचय करा देने का आज थोड़ा यत्न करूँगा।

गांधीजी का पूर्ण जीवन हमारे समक्ष

इसे 'गांधी-तत्त्वज्ञान' नाम दिया है। इसीलिए यहाँ गांधीजी के तत्त्वज्ञान का अध्ययन होने की अपेक्षा रखना स्वाभाविक ही है। जिस समय इस मन्दिर की कल्पना निकली उस समय गांधीजी हम लोगों के बीच थे। अभी तक यह मन्दिर पूरा नहीं बना है, लेकिन बनत देर में बन जायगा। बीच के समय में गांधीजी चले गये और अब उनका सम्पूर्ण जीवन हमारे सामने है। किसी मनुष्य के जीवन और उसके विचारों का मूल्य-मापन तथा उसमें ग्रहण करने योग्य विषयों का सही निर्णय उस मनुष्य के जिन्दा रहते नहीं हो सकता। लेकिन अब गांधीजी का जीवन समाप्त हो गया है और जिस रीति से वह समाप्त हुआ, उस रीति से भी उनके जीवन पर अन्तिम भाष्य लिख दिया है। शांत चित्त से भगवान् की प्रार्थना की उत्कण्ठा में ही वे गये और जाते-जाते दो अक्षरों के मन्त्र—'राम-नाम का—उच्चारण करते चले गये।

राम-नाम की कथा

एक पुरानी कथा है। वाल्मीकि ने 'शतकोटि रामायण' लिखी। तीनों लोकों में उस पर अपना अधिकार जताने की बात लेकर झगड़ा शुरू हुआ। यह झगड़ा मिटाने का काम शंकरजी को सौंपा गया। भगवान् शंकर ने इस रामायण को तीनों लोक में समान रूप से बाँटना शुरू किया। तैंतीस करोड़ फिर तैंतीस लाख इस तरह समान विभाजन करते-करते अंत में एक श्लोक

रह गया। अनुष्टुप् छन्द का रामायण का यह श्लोक बत्तीस अक्षरों का था। दस-दस अक्षरों का विभाजन करने के बाद दो अक्षर बचे। तब भगवान् शंकर ने कहा : मैंने आपका सबका विभाजन का काम किया, उसकी मजदूरी तो मुझे मिलनी ही चाहिए। बचे हुए दो अक्षरों का विभाजन नहीं होता, इसलिए ये दो अक्षर मैं अपने लिए रख लेता हूँ। आखिर ये अक्षर कौनसे थे? 'राम नाम'। सारी रामायण शंकर ने तीनों लोकों में बाँट दी और उसका सार दो अक्षरों में स्वयं ग्रहण किया। सारांश, गांधीजी ने मुख से यही 'राम-नाम' लिया और जीवनभर अखंड आसक्ति रखकर उन्होंने प्राप्त परमेश्वर और धर्मविषयक अपनी निष्ठा को उन्हीं दो अक्षरों में प्रकट कर वे चले गये।

इस प्रकार एक पूर्ण जीवन हमारे सामने है। 'पूर्ण' जीवन से मेरा मतलब अव्यंग या अकलंक नहीं। किसी भी देहधारी मनुष्य का जीवन वैसा नहीं हो सकता। गांधीजी खुद भी कहते थे कि "मैं एक साधारण मनुष्य हूँ। रास्ता तय कर रहा हूँ। भगवान् की कृपा से जितना तय कर सका, किया। अभी भी प्रवास में हूँ, मंजिल पर नहीं पहुँचा।" इसलिए 'पूर्ण जीवन' का अर्थ 'एक समाप्त हुआ जीवन' यही लेना चाहिए।

गांधी-जीवन का तटस्थ और समग्र अध्ययन

अब ऐसी स्थिति है कि हम तटस्थता और समग्रता से उनके विचारों का अभ्यास कर सकते हैं। तटस्थता से इसलिए कि देहधारी व्यक्ति के चले जाने से उसके विषय में होनेवाला लोभ और मोह अब हमें रुकावट न डालेगा। गांधीजी देहधारी थे, तब उनके नेतृत्व का लोभ हमें था और शायद विशेष विचार न करते हुए हम उनका कहना मान लेते थे। आज उस नेतृत्व का लोभ नहीं रहा, इसलिए अब हम उनके विचारों का अभ्यास तटस्थ और निरपेक्ष बुद्धि से कर सकते हैं। विचारों का अभ्यास तटस्थता से ही होना चाहिए। विचारों को स्वतन्त्र कसौटी पर कस लेना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन के उदाहरण, बहुत हुआ तो केवल विचार-प्रकाशन के साधन के तौर पर ले सकते हैं। लेकिन व्यक्तिगत चरित्र को उससे अधिक मूल्य देना उचित नहीं। व्यक्तिगत

संबंधों को अलग रखकर विचारों को देखना आवश्यक होता है। वैसी सहूलियत पहले की अपेक्षा अब अधिक हो गयी है।

हनुमान् सरीखी ऊँची उड़ान

अब "सम्यक्ता से अभ्यास कर सकते हैं" इसका अर्थ यही है कि मनुष्य का जीवन जब तक समाप्त नहीं होता तब तक उसके विचारों में परिवर्तन होता रहता है, इसलिए उसके जीते जी उसके विचारों का सम्पूर्ण दर्शन नहीं हो सकता। खासकर जो नित्य-निरंतर प्रगति करते हैं, उनके विचारों का विकास अन्त में बहुत तेजी से होता है। तुकाराम के जीवन में यही दीखता है। वह सतत प्रयत्नशील महापुरुष था। वासनाओं के क्लेश से मुक्त होने के लिए उसका इतना जोरदार झगड़ा चला कि वैसा दूसरा उदाहरण कम ही मिलेगा। लेकिन आखिर के—शायद दो-चार-छह महीनों के समय में उन्होंने जो महान् अनुभव पाया वह उससे पहले कभी भी नहीं पाया। तुकाराम के आध्यात्मिक जीवन की उत्कट पराकाष्ठा उसके अन्तिम दिनों में ही दिखाई देती है। उसके पहले की उनकी साधक दशा उनके अभंगों में स्पष्ट रूप से अंकित होती है। आखिर के दो-तीन महीनों में तुकाराम ने जितनी ऊँची उड़ान की, उतनी सारे जीवन में भी वे न कर सके।

गांधीजी की हालत भी बहुत-कुछ ऐसी ही है। 'बहुत-कुछ' इसलिए कहता हूँ कि दो जीवनों की अक्षरशः तुलना करने जैसी स्थिति नहीं है। एक का जीवन गहरा होने के साथ-साथ व्यापक और सामाजिक था तो दूसरे का समाज-सेवा विमुख होते हुए भी अत्यन्त गहरा और व्यक्तिगत था मन से विराट् और विशाल होते हुए भी गहराई में उतरा हुआ था। ऐसी हालत में दोनों के जीवनों की तुलना करना कठिन है। दोनों का ही जीवन महान् था लेकिन एक बात में दोनों में साम्य रहा। गांधीजी ने भी अपने अन्तिम जीवन में जितनी ऊँची उड़ान की उतनी पहले कभी नहीं की थी। उन्होंने उड़ानें तो पहले भी कीं लेकिन यह अन्तिम उड़ान हनुमान् जैसी थी। अब उनका जीवन समाप्त हो जाने से उनके विचारों की समग्रता हमारे सामने है, इसलिए वह चिंतन का उत्तम विषय बन सकता है। यदि हम उनकी मृत्यु के छह महीने पहले के उनके

विचार लेकर कुछ निष्कर्ष निकालने बैठते, तो सही निष्कर्ष न निकाल पाते— इतना उनका स्वतन्त्र दर्शन अन्तिम दिनों में हुआ। यह दर्शन पहले के जीवन से विसंगत नहीं सुसंगत ही था। फिर भी अभी मैंने जो उपमा दी, उस तरह यह हनुमान् की उड़ान थी।

सारांश अब गांधीजी का व्यक्तिगत जीवन समाप्त ही हो गया है इसलिए हम उनके विचारों का समग्रता और तटस्थता से विचार कर सकते हैं। साथ ही 'गांधी-तत्त्वज्ञान-मंदिर' बनाकर भूमिवालों ने इसकी जिम्मेदारी भी उठायी है इस ओर मैं उनका ध्यान खींचता हूँ। उसके लिए क्या करना चाहिए, यह भी कहने का मेरा विचार है। आज तो मैंने श्रेयों के कर्तव्य की ओर इशारामात्र किया। अब उसकी कुछ तफसीलें भी बतानी हैं जिनमें से एक बात आज बताऊँगा।

जीवन-तत्त्वज्ञान-मन्दिर

पहली बात यह कि यद्यपि इसे गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर नाम दिया गया है फिर भी यह 'जीवन-तत्त्वज्ञान-मन्दिर' होना चाहिए। संक्षेप में कहें, तो यह केवल 'तत्त्वज्ञान-मन्दिर' ही है। गांधीजी का नाम है, इसलिए केवल गांधीजी के विचारों का अभ्यास करें और अनादिकाल से जो अनेक विचार इस भाग्यवान् देश को मिलते आये हैं उनकी ओर ध्यान न दें, ऐसी वृत्ति नहीं होनी चाहिए। यह मेरी पहली सूचना है। 'गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर' का अर्थ है, गांधीजी की प्रेरणा लेकर जीवन के तत्त्वज्ञान का अभ्यास करनेवाला मन्दिर। गांधीजी की प्रेरणा का उसे आधार है, इतना ही इस नाम का अर्थ है। देश ने गांधीजी के विचारों के अनुसार चलने का थोड़ा ही सही, प्रयत्न किया है। उनके विचारों में भारतीय संस्कृति का उत्तम परिपाक मिलता है दुनिया के विचारों का सत् अंश मिलता है। इसलिए उनके विचारों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। फिर भी 'केवल उनके ही विचारों का अध्ययन' ऐसा अर्थ इस मन्दिर का न हो। नहीं तो यह गांधीजी की सारी शिक्षा ही हम भूल गये ऐसा होगा।

वस्तु पुरानी ही, पर विनियोग की दिशा नवीन

गांधीजी से जब कभी कोई कहता कि अमुक बात आपने नयी बतायी तो

वे कहते "मुझे नहीं लगता कि मैंने कोई नयी बात बतायी है। आज तक अनेक संतों ने जो बात कही उस पर इस युग में कैसे अमल किया जाय इसका मैं प्रयत्न कर रहा हूँ बस, इतना ही कह सकता हूँ। उनके इस कहने में केवल नम्रता भी ऐसा मैं नहीं मानता। वस्तुस्थिति ही वैसी है। तुकाराम भी यही कहता था : 'आम्ही वैकुंठवासी आलों याचि कारणासी। बोलिले जे ऋषि साच भावें वर्ताया।' अर्थात् ऋषि कह गये और संत बता गये। सत्पुरुषों का वह मार्ग लुप्त हो गया। उसे फिर से अमल में लाने के लिए हम भगवान् के सेवक अपने स्थान से खास तौर से छुट्टी निकालकर यहाँ आये हैं। यही भाषा ईसा की भी थी। वह कहता था : 'मैं पुरखों की शिक्षावन मिटाने के लिए नहीं बल्कि उसकी पूर्णता करने आया हूँ।' शंकराचार्य कितने महान् थे! लेकिन वे भी अपना विचार अच्छे-से-अच्छे शब्दों द्वारा रखकर भी पुराने वचनों का आधार लिया करते। कोई कहते हैं 'इस तरह आधार देना पंगुता है।' मैं कहता हूँ, 'यह पंगुता नहीं बुद्धिमत्ता है।'" अनन्त अनुभवों से भरे अर्थघन और शक्तिशाली पुराने शब्दों का जो प्रयोग करता है वह उनका लाभ कभी चूक नहीं सकता।

एक बार मेरे एक मित्र मुहम्मद पैगम्बर के पुरुषार्थ का वर्णन करते हुए कह रहे थे 'अरब कितने जंगली थे! लेकिन मुहम्मद ने उन्हें भी मानवता प्रदान की मुहम्मद का यह कितना महान् पुरुषार्थ है! बिलकुल गांधीजी की तरह ही है यह! गांधीजी ने हमारे जैसे हीनजनों को महान् बना दिया।" मैंने कहा मुहम्मद पैगम्बर के बारे में तुम्हारा ख्याल गलत है और गांधीजी के बारे में भी। मुझे न तो तुम्हारी उपमा मान्य है और न उपमेय ही। यह सच है कि दोनों ही महान् थे और दोनों ने बड़े-बड़े सुधार कर जनता को जगाया। इसीलिए तुकाराम कहता है 'काय वा संतांचे मानूं उपकार मज निरन्तर जागविती।' यानी 'इन सन्तों का मैं कितना एहसान मानूँ?' वे तो निरन्तर मुझे जाग्रत रखते हैं। लेकिन इस तरह जागृत हुए भी कोई नयी वस्तु उन्होंने दी यह नहीं कह सकते। क्योंकि यदि नयी वस्तु दी होती तो उसके लिए उन्हें हजारों नये शब्द गढ़ने पड़ते। ईश्वर सत्य प्रेम दया आदि सारे शब्द अरबी भाषा में भरे ही थे। मुहम्मद ने उन्हीं पुराने शब्दों से काम लिया।

इसका अर्थ यह होता है कि अरबों में ज्ञान पहले था ही। वह केवल लुप्त हो गया था। इसकी जागृति मुहम्मद ने की। गांधीजी ने भी यही किया।

इसलिए आज मेरी पहली सूचना यही है कि गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर द्वारा गांधीजी के नाम से प्रेरणा पाकर सभी तरह के तत्त्वज्ञानों का व्यापक विचार होना चाहिए।

(२)

पाक्षिक अध्ययन नहीं चाहिए

प्रायः दिखाई देता है कि अध्ययन करनेवालों के गुट बन जाते हैं। जहाँ तहाँ यही बात बढ़ती जा रही है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि मनुष्य में अहंकार होता है और वह किसी भी काम में संकुचितता निर्माण करता ही है। अध्ययन करनेवालों में भी यह वृत्ति होने लगती है कि किसी एक चीज के अध्ययन के अलावा दूसरा कुछ देखना ही नहीं। महाराष्ट्र में भी ऐसा पाता है कि वारकरी-पन्थ के लोग भी समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक' न पढ़ेंगे। मैं यह नहीं कहता कि उनमें सभी लोग ऐसे ही होते हैं, पर आम तौर पर ऐसा है। यह बात दूसरी है कि 'मनाचे श्लोक' प्रसिद्ध होने के कारण वे अनायास कान पर पड़ते हैं लेकिन वे उनका अध्ययन नहीं करते। वैसे ही मैंने रामदासी पन्थ के भी कुछ लोग ऐसे देखे, जो रामदास के छोटे-मोटे सभी ग्रन्थों का अध्ययन करेंगे लेकिन 'ज्ञानेश्वरी' न पढ़ेंगे। यह स्थिति महाराष्ट्र में ही है ऐसा नहीं दूसरी जगह भी यही हाल है।

अध्ययन सर्वांगीण हो

इस तरह पाक्षिक अध्ययन करनेवालों का बचाव इस प्रकार किया जा सकता है कि मनुष्य सब ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकता इसलिए वह कुछ ग्रन्थों तक ही सीमित अध्ययन करता है। यह गुण भी कहा जायगा बशर्ते संकुचित बुद्धि रखकर वैसा अध्ययन न होता हो। उसे मैं मान्य भी कर लूँगा। फिर भी उसमें एकांगीयता रहनेवाली नहीं। उसमें सर्वांगीणता होनी चाहिए। उसके लिए अपना विशिष्ट अध्ययन करने के साथ ही उसके इर्दगिर्द के विचार का साधारण अध्ययन भी करना होगा। केवल मस्तिष्कमात्र तक ही करना हो तो

मस्तिष्क का परिपोष करनेवाला एकआध ग्रन्थ भी मनुष्य के लिए काफी है और उतने से वह संतुष्ट हो सकता है। वह कह सकता है कि इस पुस्तक के सहारे मेरे मस्तिष्क का परिपोष हो जाता है इसलिए दूसरी पुस्तकों के अध्ययन की मुझे जरूरत नहीं पड़ती।

लेकिन गांधीजी के विचारों के बारे में ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उनके दिये हुए विचार केवल मस्तिष्क-पोषक न होकर जीवनव्यापी भी हैं। जीवन व्यापी विचार जब हम चिंतन के लिए लेते हैं, तो उनके वैसे ही उपलब्ध अन्न विचारों का अभ्यास किये बगैर उनकी पूर्णता नहीं होती। पूर्णता के लिए ही इस तरह का अभ्यास जरूरी है; इतना ही नहीं, बल्कि सत्यदर्शन के लिए भी उसकी जरूरत होती है। इसीलिए गांधीजी के विचारों का अभ्यास व्यापक बुद्धि से होना चाहिए। ऐसा कभी न हो कि गांधी-तत्त्वज्ञान का तो मनन भी हो जाय पर अन्यान्य तत्त्वज्ञानों का केवल श्रवण ही रहे।

हमारा विचार तत्त्वज्ञानपूर्वक रहे

आज व्यापक बुद्धि से अभ्यास करने की बहुत जरूरत है। कई वर्षों से मैं यह देख रहा हूँ और मुझे स्वीकार करना होगा कि विधायक काम करनेवाले हमारे कार्यकर्ताओं को पिछले दिनों अध्ययन करने का मौका ही नहीं मिला था उन्हें उसकी आवश्यकता ही महसूस न हुई हो अथवा दोनों ही हुई हों। अब तक हमारा विचार चारों ओर फैल नहीं गया इसका कारण यही है कि हमने उसका चिंतन नहीं किया है। अब तक जो हुआ वह एक तरह से क्षम्य भी कह सकते हैं। क्योंकि कह सकते हैं कि यहाँ पर कभी हुई विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के एक कार्यक्रम में हम मग्न थे। अध्ययन के लिए जो कुछ मौका मिला वह जेल में ही मिला अत्यन्त कम ही मिला। लेकिन 'केवल मौका कम मिला' ऐसा नहीं ऐसे अध्ययन की जरूरत भी महसूस नहीं हुई, इसे मैं दोष अवश्य मानता हूँ। अब तक यह हमें नहीं खटका क्योंकि एक कोशिश कार्यक्रम आगे बढ़ाना था और उसमें हमारा ध्यान खिंच गया। लेकिन इसके आगे हमारा विचार समाज में मान्य होने के लिए सुव्यवस्थित रीति से उसका अभ्यास होना चाहिए। उस विचार के पीछे जो तत्त्वज्ञान है वह हृदय पर अंकित होना चाहिए। केवल

विविध आचार रखकर काम न चलेगा। उसे मजबूत नींव की जरूरत है। हमें कोई तात्कालिक काम नहीं करना है बल्कि दुनिया में आज चल रहे विचार प्रवाह के विरुद्ध विचार-प्रणाली कायम करनी है। उसे उत्तम तत्त्वज्ञान की नींव चाहिए। हमारा विचार तत्त्वज्ञानपूर्वक न होगा, तो हमारी ही शक्ति डाँवाडोल रहेगी। इस सम्बन्ध में साम्यवादियों की दृष्टि मुझे ठीक लगती है। वे तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हैं और तत्पूर्वक ही अपने विचार पेश करते हैं। हम भी तत्त्वज्ञान को बाद नहीं कर सकते।

शंकराचार्य का उदाहरण

इस विषय में हम अपने यहाँ का उदाहरण देना हो तो शंकराचार्य का दे सकते हैं। उन्होंने तत्त्वज्ञान की मजबूत नींव डाली। समाज को उन्होंने जो आचार सिखाया उसके मूल में स्थित तत्त्वज्ञान को भी उन्होंने बुद्धिपूर्वक समाज के गले उतारा। उन्होंने कहा कि "यह तत्त्वज्ञान जिन्हें जँचे, वे ही मेरा आचार ग्रहण करें।" मेरी राय में उनकी यह बड़ी महत्ता थी। उन्होंने यह कभी नहीं चाहा कि बिना तत्त्वज्ञान समझे लोग मेरे आचार का अमल करें। इसके विपरीत वे निश्चयपूर्वक यही कहते कि "मेरा तत्त्वज्ञान जँचे तभी मेरा आचार ग्रहण करो, अन्यथा स्वतंत्र रूप से उस आचार की मुझे कोई जरूरत नहीं।" उनकी यह दृष्टि गहरी है। हममें भी ऐसी ही दृष्टि होनी चाहिए। इसकी तुलना में साम्यवादियों की दृष्टि उतनी गहरी नहीं। यद्यपि उन्होंने अपने विचारों को तत्त्वज्ञान का आधार दिया है तो भी उनका आचार के बारे में बहुत ही आग्रह है। मुख्यतः वे यही चाहते हैं कि दुनिया में हमारा आचार चल जाय। इसीलिए वे तत्त्वज्ञान भी उपस्थित करते हैं। मैं उन्हें इसका श्रेय देता हूँ कि साम्यवाद में ही नहीं, वे तत्त्वज्ञान का मूल्य भी मानते हैं। किन्तु शंकराचार्य की दृष्टि अत्यधिक सूक्ष्म थी। उन्हें समाज की नींव मजबूत करने में जितना आनन्द मालूम पड़ता था उतना अपना समाज बनाने में नहीं था। इसी कारण यह एक गलत धारणा बन गयी कि शंकराचार्य व्यवहार के बारे में उदासीन रहे। वास्तव में उन्होंने व्यवहार के बारे में इतनी चिन्ता रखी। हमें भी वही दृष्टि रखनी चाहिए। इसके बिना चलना ठीक न होगा।

गांधीजी का नित्य नया चिंतन

लेकिन यह बात हमारे ध्यान में जितनी आनी चाहिए, उतनी अभी तक नहीं आयी है। हमने किसी विशिष्ट आचार पर जोर दिया पर उसके पीछे के तत्त्वज्ञान का विचार नहीं किया। मैंने ऐसे भी लोग देखे हैं जो दस-दस साल गांधीजी के काम में जुटे रहे, लेकिन खुद गांधीजी के विचारों तक का अध्ययन उन्होंने नहीं किया। पूछने पर कहते "उन्हींका काम तो हम कर रहे हैं फिर अध्ययन करके नया क्या मिलेगा? हम जो कर रहे हैं उसीकी पुष्टि ही उन विचार में की है न?" लेकिन इस बात का उन्होंने खयाल नहीं किया कि गांधीजी जिस तरह निरन्तर काम करते रहे वैसे ही निरन्तर विचार भी देते रहे। बिलकुल आखिर के दिन भी वे एक मसविदा लिखकर गये। क्या वे पागल थे? निश्चय ही वे विचारों का महत्त्व जानते थे। लेकिन हम सेवकों को विचारों के चिन्तन का महत्त्व महसूस नहीं हुआ। हम लोगों का यह हाल ध्यान में आने पर भी सम्भव है कि उन्होंने उस समय के व्यस्त कार्यक्रम के कारण उस ओर ध्यान न दिया हो।

खादी का प्रचार तत्त्वज्ञानपूर्वक हो

कुछ भी हो परमेश्वर की कृपा से अब ऐसी स्थिति नहीं है कि इसके आगे यह विचार उत्तम चिन्तन के बगैर दुनिया में फैल सके। इसीलिए मैं बार-बार कहता आया हूँ कि खादी क्यों आगे नहीं बढ़ती इस कारण मुझे उत्साह आता है। खादी कोई साग जैसी चीज नहीं कि लोगों को उसका चस्का लगे और उसके प्रचार के लिए विचार की जरूरत न रहे। अगर विचार मान्य किये बगैर कोई मजबूरन खादी पहनता हो, तो वह मेरी खादी नहीं है। तत्त्वज्ञान पूर्वक खादी का प्रचार हो तो वह मुझे चाहिए। इसलिए इसके आगे अध्ययन की बहुत जरूरत है। उसकी सारी व्यवस्था यहाँ होनी चाहिए।

अध्ययन के साथ कुछ सर्वमान्य सेवा भी

लेकिन इसके साथ-साथ एक दूसरी बात मुझे कहनी है। वह यह है कि यह केवल तात्त्विक निर्गुण या अव्यक्त चिन्तन का विचार नहीं है। यद्यपि

नाम तत्त्वज्ञान-मन्दिर है, फिर भी उसका पूरा अर्थ लेना चाहिए। जब यहाँ गोशाला और तेलघानी चल रही है वैसे ही कुछ उद्योग और कर्मयोग भी निरन्तर चलना चाहिए। तत्त्वज्ञान-मन्दिर की ही बात क्या मैं साधारण मन्दिरों से भी यह अपेक्षा रखता हूँ कि जिसमें किसीका विचार-भेद होने का कारण न हो, ऐसी सर्वमान्य निर्विवाद शुद्ध धर्म-कथा वहाँ चले। फिर तत्त्वज्ञान मन्दिर में तो वैसी सेवा चलनी ही चाहिए। तत्त्वज्ञान का अभ्यास और कर्मयोग मिलकर एक परिपूर्ण जीवन यहाँ होना चाहिए।

(२)

सर्वोदय शब्द विचारसूचक

यहाँ के तत्त्वज्ञान-मन्दिर से हम क्या अपेक्षाएँ रख सकते हैं, दो दिन से उस पर विचार हो रहा है। एक अपेक्षा यह कि यहाँ से जीवन के तत्त्वज्ञान का अभ्यास और प्रचार हो। अगर इसको कोई नाम ही देना हो, तो मैं समझता हूँ हम इसे 'सर्वोदय का तत्त्वज्ञान' कह सकते हैं। 'सत्याग्रह का तत्त्वज्ञान' यह नाम भी शायद चल सकता है। लेकिन अगर कोई एक ही शब्द निश्चित करना हो, तो 'सर्वोदय' अधिक ठीक होगा। सत्याग्रह शब्द आचारनिष्ठ अधिक है। पर शब्द विचारसूचक होना चाहिए। 'सर्वोदय' वैसा हो सकता है। सर्वोदय के स्वरूप के बारे में मैं यहाँ कुछ न कहूँगा। पहले एक-दो बार इस बारे में कह चुका हूँ।

सर्वोदय का विचार समन्वयात्मक

सर्वोदय-तत्त्वज्ञान का मुख्य विचार समन्वयात्मक है। यानी सभी विचारों का समन्वय करने और उन्हें एकत्र लाने की शक्ति सर्वोदय-विचार में है। हिन्दुस्तान की संस्कृति ही ऐसी है कि समन्वय उसके रोम-रोम में भिदा हुआ है। उसकी पूर्ति सर्वोदय विचार से ही हो सकती है। वैसे सर्वोदय का किसीके साथ विरोध रहने का कोई कारण नहीं। अवश्य ही उसका उन सबके विचारों से विरोध है, जो यह मानते हैं कि सबका उदय न हो, कुछ थोड़े ही लोगों और विभागों का ही हो, तब कुछ व्यक्तियों या लोग दूसरों से भेद करें और उन्हींके

हाथों में सधा रहे। फिर भी यह विरोध ऐसा है कि किसी भी तरह मिट नहीं सकता। या तो यह रहे या वह, इतना दोनों में विरोध है। जो 'फासिज्म' या 'पाशविक राज्य' की कल्पनाएँ करते हैं, जो वर्ग-विशेष की उन्नति को ही प्रधान मानते हैं—फिर वह वर्ग बहुसंख्यक हो या अल्पसंख्यक—या जो औरों की परवाह न कर आवश्यक हुआ, तो उनका उच्छेद करना भी उचित मान लेते हैं, सर्वोदय उनका विरोध करेगा। अगर सर्वोदय उनका विरोध न करे, तो फिर उसका प्रयोजन ही क्या रहा? यदि प्रकाश अन्धकार का विरोध न करे तो अपना ही उच्छेद कर लेगा। इसलिए इतना विरोध तो रहेगा ही। किन्तु बाकी सारे विचार-प्रवाह सर्वोदय में समा सकते हैं। उनके प्रवाहन की जिम्मेदारी यहाँ के लोगों पर है।

सर्वोदय का कर्मयोग

दूसरी बात हमने यह देखी कि सर्वोदय-तत्त्वज्ञान का पोषक एक रचनात्मक कार्यक्रम भी गांधीजी ने पेश किया है। आज के जमाने की आवश्यकता और हमेशा की आवश्यकता दोनों को देखते हुए वह एक सुन्दर और परिपूर्ण कर्मयोग है। केवल तत्त्वज्ञान हवा में रहता है, तो केवल कर्मयोग ऊँचा नहीं उठता, जमीन से चिपका रहता है। इसलिए जहाँ तत्त्वज्ञानयुक्त कर्मयोग और कर्मयोगयुक्त तत्त्वज्ञान का यानी आचार और विचार दोनों का मेल हो, वहाँ मानवता का दर्शन होता है। आखिर यह मानव-मूर्ति भी ऐसी ही है—पाँव जमीन से सटे हुए और मस्तक गगनविहारी। इन दोनों के बिना जीवन पूर्ण नहीं बन सकता। गांधीजी ने अपने विचार में रचनात्मक कार्यक्रम स्पष्ट कर दिया है। इसलिए उस कार्यक्रम या जीवन की रचना के बारे में कोई सन्देह नहीं रहता। लोगों के सामने साफ चीज खड़ी हो जाती है। आवश्यकता काम ही न करना हो तो और बात है; लेकिन काम स्पष्ट बताया ही नहीं गया ऐसी बात नहीं है। गांधीजी ने पहले यह कार्यक्रम छोटा-सा ही बताया था, पर फिर बढ़ाते-बढ़ाते उसकी अनेक शाखाएँ कर दीं। पहले से ही सारी बातें कह नहीं सकीं क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा था कि जैसे-जैसे एक-एक वस्तु प्रयोग के बाद समझ में आती जाय वैसे-वैसे समाज के सम्मुख उसे रखा जाय।

केवल कल्पना से कुछ न रखा जाय। उदाहरणार्थ महारोगी-सेवा ही लीजिये। यह बात उनके कार्यक्रम में देरी से प्राप्त हुई क्योंकि हम पहले महारोगियों की प्रत्यक्ष सेवा नहीं करते थे। जब वर्धा में उस काम का प्रारंभ हुआ तभी उन्होंने उसका रचनात्मक कार्यक्रम में समावेश किया। कल्पना से ही और कार्यक्रम बनाना होता, तो आज की दस-पंद्रह बातों के बजाय सौ-दो सौ बतायी जा सकती थीं। लेकिन उससे कोई काम न होता। उनका यही तरीका था कि देश के सामने वही कार्यक्रम रखा जाय जो थोड़ा-बहुत प्रत्यक्ष आचरण में आया हो। बाकी स्वतन्त्र रूप से जिसे जो कार्यक्रम करना हो उसे उसकी आजादी और सुविधा थी ही। इसी वृत्ति के कारण वे धीरे धीरे अधिक विस्तृत कार्यक्रम देश के सामने रखते गये। अब वह व्यवस्थित रूप में हमारे सामने है। सर्वोदय-समाज ने उन सबका अच्छा संकलन किया है।

इस तरह आज एक सुव्यवस्थित कर्मयोग सम्मुख होने से कार्यकर्ताओं को भी सांत्वना मिलती है। अवश्य ही व्यापकता से यह कहना अनुचित नहीं कि "तुझे एक तत्वज्ञान दे दिया है अब जैसा चाहो, वैसा करो।" लेकिन इससे उसे सांत्वना नहीं मिलती स्पष्ट दिग्दर्शन नहीं होता। अब तक सभीने बताया कि निष्काम कर्मयोग किया जाय। लेकिन इसका निर्णय नहीं हो पाया कि वह कर्मयोग कौन-सा है? आप ही कर्मयोग का सिद्धान्त मान्य करके भी कार्यक्षेत्र में कुछ नहीं होता। पुराने लोग यज्ञ-यागादि को ही कर्म समझते थे। गीताकारों ने उसमें दान धर्म, तपस्या आदि को जोड़कर उसका स्पष्टीकरण किया कि कर्म याने यज्ञ-दान या यज्ञ-आश्रम किया गया कर्म। हो सकता है कि उस-उस जमाने में वे कर्म उपयोगी सिद्ध हुए हों फिर भी जितनी स्पष्टता से यह कार्यक्रम रखा गया है उतनी स्पष्टता से वह नहीं रखा गया। अगर कोई आग्रह करे कि पुराने जमाने के यज्ञ-याग आज भी करने चाहिए तो वह गलत होगा। आज कर्म मतलब यानी आज की आवश्यकता के अनुरूप चाहिए। वह निष्काम और निरहंकार करना अच्छा है और निरहंकार तभी हो सकता है जब कि वह सामूहिक प्रवाह के अनुरूप हो। अगर आज कोई यज्ञ-याग का कर्मयोग समाज के सामने रखता तो वह महत्त्वपूर्ण सामूहिक प्रवाह से अलग और इसलिए अहंकार भरा होगा। कार्यक्रम आज की आवश्यकता के अनुरूप हो तो निष्काम और

निरहंकार बुद्धि से उस पर अमल किया जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य निर-हंकार बुद्धि से कर्म करता ही है ऐसी बात नहीं है। यह तो उसकी आसक्ति पर निर्भर है। लेकिन करने की इच्छा हो तो ऐसे कर्मयोग में यह सुविधा रहती है। इस कार्यक्रम में ऐसी ही सुविधा हुई है, इसलिए यहाँ उसका दर्शन होना चाहिए। दृष्टि यह रहनी चाहिए कि यहाँ किसी-न-किसी कर्मयोग का यथाशक्ति सतत आचरण हो रहा है। यह हुई दूसरी जिम्मेदारी जिसका यहाँ विशेष विवरण किया गया।

व्रतनिष्ठा की आवश्यकता

लेकिन इन दो बातों से भी समग्र विचार नहीं होता। और भी एक महत्व की बात है जिससे यह विचार परिपूर्ण हो जाता है। वह है जीवन-शुद्धि की भावना। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्वाद, निर्भयता आदि एकादश व्रत गांधीजी बता गये हैं। इसे 'जीवन-शुद्धि की साधना', 'व्रतनिष्ठा' या चाहें तो 'सत्याग्रह-निष्ठा' भी कह सकते हैं। कुल मिलाकर अर्थ एक ही है। जीवन किसी विशेष श्रद्धा पर खड़ा करना चाहिए। एक निश्चित दिशा में बहने के कारण नदी का पानी नहीं फूटता और इसलिए उसमें से कारगर शक्ति प्रकट होती है। जीवन-चर्या भी इसी तरह निश्चित ध्येय के अनुसार बहती रहनी चाहिए। सारा कर्मयोग विशिष्ट निष्ठा पर रखा जाय, इसीलिए इन ग्यारह व्रतों की योजना की गयी है।

गांधीजी का विशेष भक्ति-मार्ग

जीवन शुद्धि के लिए व्रतों की आवश्यकता की कल्पना कोई नयी नहीं। किन्तु गांधीजी ने इसे जिस प्रकार निश्चयपूर्वक रखा और जितने रखे, उससे नया दीखना स्वाभाविक है। जब पूर्वानुभव पास में रहता है, तभी आगे के लोगों को कुछ नयी स्फूर्ति होती है। उनके बीज उस पूर्वानुभव में रहते ही हैं, वे ही नये रूप में अंकुरित होते हैं। यही इस मामले में भी हुआ है। योगशास्त्र भी मानता है कि योग-साधना के लिए अहिंसा, सत्य आदि यम-नियमों का आधार चाहिए। पर उसने भी सामान्य समाज-सेवक नहीं बतलाये। समाज-सेवक के लिए यम

नियम-निष्ठा की कल्पना विशेष बात है। उसमें धर्म शास्त्रों का रहस्यभूत भाग आ जाता है। वैसे तो भक्ति-मार्ग में भी नारदादि ने बताया है कि अहिंसा सत्य आदि चारित्र्य का परिपालन होना चाहिए, पर भक्तिमार्गियों में इस बारे में ढिलाई दीख पड़ती है। इसके लिए मैं उन्हें विशेष दोष नहीं देता क्योंकि भक्ति-मार्ग की मुख्य कल्पना है परमेश्वर की भक्ति से पावन होना। यद्यपि इसके साथ वे चारित्र्य-बल आदि आवश्यक मानते हैं, फिर भी वे यह श्रद्धा रखते हैं कि ईश्वर-भक्ति से ये बातें सध जायँगी। वास्तव में यह श्रद्धा गलत है। भक्ति-मार्ग का स्वरूप ही ऐसा होना चाहिए कि जीवन उत्तरोत्तर शुद्ध करते जायें, अवगुणों का विवेकपूर्वक त्याग करें और व्रतनिष्ठा बढ़ाते जायें। यह सही है कि भक्ति से यह निष्ठा बढ़ेगी लेकिन आजकल भक्तिमार्गियों को इस बात का ध्यान कम है कि गुण-विकास के लिए हृदय शुद्ध रहना चाहिए। गांधीजी ने यह एक विशेष भक्ति-मार्ग ही बताया है। इससे भक्ति का व्यापकीकरण होता है और गलतफहमी के लिए गुंजाइश नहीं रहती। मैं रोज प्रार्थना करता हूँ लेकिन अगर मेरे चित्त से द्वेष-भावना दूर नहीं होती तो मेरी भक्ति की कमजोरी है। जाहीर और सिद्ध ही बात है कि वह अभी हार्दिकता से भरी नहीं है। उचित रूप से भक्ति करने में व्रतनिष्ठा सहायक होती है। किंबहुना यही प्रार्थना आदि भक्ति के अंगों की आवश्यकता है। सही प्रार्थना तभी होती है जब आत्मपरीक्षण द्वारा मैं महसूस करता हूँ कि अहिंसादि के परिपोष का निरन्तर प्रयत्न करते हुए भी अवगुण रह जाते हैं, मेरे प्रयत्न अधूरे रहते हैं और सहायता के लिए मैं भगवान् के चरणों में दौड़ जाता हूँ। इसलिए गांधीजी ने अहिंसादि व्रतों के पालन के साथ-साथ नाम-स्मरण की भी आवश्यकता बतायी। रामदास ने भी कहा है। "आचरण का पदलकर भक्ति-मार्ग का ही अनुसरण करो।" यही है यह बात! इससे भक्ति मार्ग का दर्शन मिलती है। जीवन शुद्धि की यह भावना हमारे आचरण में होनी चाहिए, यह तीसरी विशेषता है।

जीवन का त्रिविध दर्शन

स्वतन्त्र रहना स्वाभाविक सर्वोपकारी है रचनात्मक कार्यक्रम हमारा पक्ष

योग है और नाम-स्मरण तथा परमेश्वर की सहायता लेकर अहिंसादि व्रतों
आचरण हमारा भक्ति-मार्ग है। यह जीवन का त्रिविध सम्यक् दर्शन है, जि
दुनिया पावन होगी। उस सारी दुनिया का मध्यबिंदु है मैं और मेरा जीवन
इसलिए मुझे फिक्र रखनी चाहिए कि मुझमें ये तीनों बातें हर रोज सि
होती जायें।

गांधी-तत्त्वज्ञान-मन्दिर धूलिया
११-११।४९

विश्व मंगल का ध्येय १२

आपके इस जिले में मैं कई बार आकर आया हूँ। वेरूळ और अजन्ता की गुफायें देखकर आया यह बताने की जरूरत ही नहीं। क्योंकि दुनियाभर के जितने भी प्रवासी हिन्दुस्थान में आते हैं वे इन गुफाओं का दर्शन किये बगैर नहीं जाते और साथ समय हिन्दुस्थान की धर्म-भावना की छाप अपने साथ ले जाते हैं। लेकिन जितनी कुशलता और धर्मनिष्ठा इन दो गुफाओं में प्रकट की है उतनी ही कुशलता और धर्मनिष्ठा प्रकट करनेवाली ऐसी ही दूसरी कला कृतियाँ आपके जिले के महापुरुषों ने निर्माण की हैं। उनके जन्मस्थान भी मैं देख आया। इस समय मेरा ध्यान ज्ञानदेव और एकनाथ की तरफ है, यह आपके ध्यान में आया ही होगा। इन्होंने जो कलाकृतियाँ निर्माण की हैं वे मेरी दृष्टि से अनमोल हैं। अगर भगवान् मुझसे पूछे कि तू पत्थरों में खुदी इन कलाकृतियों को लेने को तैयार होगा या ज्ञानदेव और एकनाथ की कलाकृतियों को? दोनों में से कोई एक ही तुझे मिलेंगी। तो मैं निःशंक होकर ज्ञानदेव और एकनाथ की अत्यन्त कलापूर्वक तैयार की हुई उनकी ओवी-भागवत और अभंग जैसी निष्ठा सिखानेवाली उनकी वाङ्मयी कलाकृतियों को ही पसन्द करूँगा। ज्ञानदेव और एकनाथ दोनों उन गुफाओं को देख आये, क्योंकि वे इसी प्रदेश में रहनेवाले थे। ज्ञानदेव ने तो उनका जिक्र भी किया है।

'ज्ञानदेव कैसे गीत रचनाकार बने'

जिस प्रकार कारीगरों ने गुफाओं में कलाकृति निर्माण की है वैसे ही ज्ञानदेव कहता है कि मैंने भी गीता में एक कलाकृति निर्माण की है। और एकनाथ ने भागवत में एक कलाकृति निर्माण की है। मेरी आप लोगों से प्रार्थना है कि इन वाङ्मय कलाकृतियों का बारीकी से अध्ययन करें।

ज्ञानेश्वरी और भागवत की सर्वोदयकारी रचना

ज्ञानेश्वरी और भागवत दोनों अनुपम ग्रन्थ हैं। वे जीवित धर्म का उपदेश करते हैं, हमें सारे भेदों से पार ले जाते हैं, जीवन में सदैव मार्ग-दर्शन करते और व्यक्ति तथा समाज का कर्तव्य सिखाते हैं। हाल ही में मुझे एक मुसलमान भाई की एकनाथ के बारे में लिखी हुई पुस्तक मिली है। मैं उसे अभी पूरा पढ़ नहीं पाया, लेकिन सरसरी निगाह से देख गया। उस भाई को एकनाथ का वाङ्मय मानो इस्लाम की शिक्षा के लिए अच्छा पोषक मालूम हुआ। दरअसल बात यही है कि ज्ञानदेव और एकनाथ की लिखावट में कहीं भी संकुचित भाव नहीं। उन्होंने सारे मानव-समाज का हित ध्यान में रखकर ही लिखा है। इसलिए मेरी तो सिफारिश है कि हमारे यहाँ के मुसलमान भाई भी श्रद्धा और विश्वास से उनके ग्रन्थों का अभ्यास करें। मैं उन्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि इससे उनका कुछ भी नुकसान न होगा। उलटे उनकी धर्मनिष्ठा बढ़ेगी, परस्पर सद्भाव आप्त होगा और उन्हें जीवन का अधिक स्पष्ट दर्शन होगा। ज्ञानदेव ने तो लिखा ही है कि लिखने या बोलने का ढंग ऐसा ही होना चाहिए, जिससे एक को लक्ष्य करके कहते हुए भी वह सबके हित का हो :

पुढ़ा बोलिजे होय सर्वां हि हित।

यानी वह कथन सर्वोपयोगी, सर्वोदयकारी हो। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के निमित्त से गीता कही; लेकिन उससे सारी दुनिया को भी लाभ हो, इसी प्रकार का उनका वह सारा कहना था। वही भूमिका ज्ञानदेव और एकनाथ की है और हिन्दुस्तान को आज की जरूरत भी यही है।

प्रेम रहे, अभिमान नहीं

सर्वोदय से किसी प्रकार भी हलकी चीज हिन्दुस्तान का परराष्ट्र नहीं होगी। आज वह यही चाहता है कि हम लोग चित्त में जमी अनेक प्रकार की तुच्छ उपाधियाँ दूर कर अपना परिशुद्ध स्वरूप ही पहचानें और 'मैं व्यापक आत्मा हूँ' यह अनुभूति नित्य-निरंतर चित्त में रखें। भगवान् ने हिन्दुस्तान को संकुचित राष्ट्र नहीं बनाया है, बल्कि एक भगवत्स्थान या शतगमूहपुर महान् देश बनाया

है। ऐसे देश के लोगों को छोटे-छोटे अहंकार रखना कभी लाभप्रद न होगा। मैं मराठी, मैं बंगाली, मैं गुजराती—इस तरह की भावना मारक होगी, तारक नहीं। मैं हिन्दू, मैं मुसलमान, मैं ईसाई—इस तरह की भावना ऐक्य नहीं विरोध ही पैदा करेगी। जिसे हम जाति, भाषा या पंथ का अभिमान कहते हैं, यह अभिमान रखने से हिन्दुस्तान का हित नहीं होगा, भगवान् ने हिन्दुस्तान की ऐसी ही रचना की है। इतना ही नहीं, बल्कि 'मैं भारतीय हूँ' यह अभिमान भी हिन्दुस्तान के लिए कल्याणकारी न होगा। देश, प्रांत, भाषा या धर्म पर प्रेम रहे लेकिन अभिमान न रहे। अगर भारतीयता का भी अभिमान रखेंगे, तो वह भी आज की दुनिया के प्रवाह के विरुद्ध होगा और दुनिया में विसंवाद पैदा करेगा। उसमें से श्रेय न होगा। हिन्दुस्तान का श्रेय न होगा और न दुनिया का ही कल्याण होगा।

इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान से दुनिया यही अपेक्षा रखती है कि सारी दुनिया में जब विरोध निर्माण हो तो वह समन्वय करने का काम करे। हिन्दुस्तान यह काम करेगा इसी आशा से दुनिया उसकी तरफ देख रही है। यह 'एशियाई कान्फ्रेन्स' जैसी घटना से आपके ध्यान में आ ही गया होगा। स्वराज्य प्राप्ति के बाद हिन्दुस्तान में जो बुरी-बुरी घटनाएँ हुईं, उनसे यद्यपि उसकी इज्जत गयी फिर भी वह तात्कालिक दशा थी। आयी और गयी। आखिर हिन्दुस्तान की जिस निर्भय आत्मा का नेतृत्व करने की अपेक्षा प्रतिनिधित्व गांधीजी ने किया और उससे दुनिया को एक आशा बँधी है। अगर हम दुनिया की वह आशा पूरी न करें या उसमें से निर्माण होनेवाली निराशा हमारे ऊपर हमला किये बगैर न रहेगी। इसलिए हमारा इस देश में ऐसा पक्का रहे, इस जमाने में अगर हम भारतीयता का भी अभिमान रखेंगे तो वह लाभदायक न होगा। इसलिए हम देश की सेवा करें, देश पर प्रेम करें। लेकिन अभिमान छोड़ें और हम मानव हैं इतना स्मरण करें।

मनुष्य और मानव की भावनाएँ

इतना ही नहीं बल्कि गांधीजी ने भगवान का नाम लेकर हमारा शुद्ध स्वरूप समझाया। हम भोजन में यह कहते हैं कि 'मैं मानव हूँ' यह अभिमान भी छोड़ दें

इसे हम प्राप्त कर लेंगे, इसमें मुझे जरा भी शंका नहीं है। कारण आज सारी दुनिया बहुत नजदीक आ गयी है, एक-दूसरे का एक-दूसरे पर अति शीघ्र परिणाम होने की स्थिति उपस्थित है।

सत्त्वगुण की विजय

लोग मुझसे पूछते हैं "दुनिया में हिंसा की हवा बह रही है, हिन्दुस्तान उससे कैसे बचेगा?" मैं उनसे कहता हूँ : "हिन्दुस्तान में हम अहिंसा की हवा निर्माण करेंगे, तो फिर दुनिया उससे कैसे बचेगी?" दुनिया का मुझ पर असर होता है, ऐसा कहनेवाले से मैं कहता हूँ 'आपके क्या तू इतनी बात भी नहीं समझता कि अगर मुझ पर दुनिया का असर होता है तो मेरा भी दुनिया पर असर होगा। दुनिया में सत्त्वगुण में जो शक्ति है वह रजोगुण या तमोगुण में नहीं। जिसका बल सत्त्वाधिष्ठित है उसीका परिणाम सारी दुनिया पर होगा। जिसका बल रजोगुण या तमोगुण का है, उसका परिणाम सत्त्वगुण पर होना सम्भव नहीं। ध्यान रखो कि रजोगुण में बहुत दुखा तो जोश रहता है, लेकिन बुद्धि नहीं और बिना बुद्धि का जोश आखिर व्यर्थ ही हो जाता है। बुद्धि के सामने उसका कुछ भी नहीं चल पाता। सत्त्वगुण में बुद्धि है इसलिए हिन्दुस्तान अगर सत्यनिष्ठा का एक संकल्प निर्माण करे तो वह वजनदार होगा।' आज दुनिया हिंसा से इतनी परेशान है कि इस तरह के संकल्प के लिए विचारवान् लोगों के मन अनुकूल हो गये हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान का संकल्प सारी दुनिया में फैल सकता है। हम उसे फैलाने की हिम्मत रखें और काम में लग जायें।

सरस्वती-भवन औरंगाबाद
२२।१।'५१

लोग पूछते हैं कि आपने यह नया शब्द ('सर्वोदय') क्यों निकाला ? वस्तुतः यह नया शब्द नहीं। गांधीजी ने कई साल पहले इसका उपयोग किया है। लेकिन इस समय नये सिरे से इसका व्यापक प्रचार किया जा रहा है। लोगों में भी अब यह शब्द चल पड़ा है। लेकिन सर्वोदय के अर्थ की ठीक ठीक कल्पना अभी तक बहुत लोगों को नहीं हुई है। जहाँ अर्थ ही ठीक तरह मालूम न हो वहाँ उसके अमल का विचार दूर की बात है।

स्वराज्य के बाद का प्रेरक शब्द

'सर्वोदय' शब्द अगर इस समय न आया होता तो स्वराज्य प्राप्ति के बाद या तो हम ध्येयविहीन बन जाते या गलत ध्येय में फँसते। हमारा ध्येय क्या होना चाहिए इसका 'सर्वोदय' शब्द ठीक ठीक दर्शन कराता है। आज तक हम 'स्वराज्य' शब्द से प्रेरणा मिलती रही। दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए तपस्या की। हमने और दूसरे लोगों ने ७० साल इसके लिए परिश्रम किया और अब एक तरह का स्वराज्य हमें प्राप्त हुआ है। स्वराज्य प्राप्ति में हमें यह शब्द प्रेरणा दे रहा था। लेकिन अब कोई ऐसा दूसरा शब्द चाहिए जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में हमें प्रेरणा दे। 'सर्वोदय' ऐसा ही शब्द है। स्वराज्य का काम भी 'सर्वोदय' के अन्तर्गत ही था, क्योंकि जब तक यह देश दूसरे के वश में गुलाम पड़ा था तब तक सबका उदय होना सम्भव ही न था। इसलिए पहले देश को आज़ाद करने की ही ज़रूरत थी। वह सर्वोदय की पहली मंज़िल थी। इसके आगे सबके उदय का ध्येय लोगों के सामने रखकर हमें अपनी निजी कल्पना और निज के व्यवहार में तदनुकूलता लानी चाहिए।

प्राचीन ग्रन्थों में सर्वोदय-कल्पना

सर्वोदय की कल्पना हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलती है। [illegible]

इसे हम प्राप्त कर लेंगे इसमें मुझे जरा भी शंका नहीं है। कारण आज सारी दुनिया बहुत नजदीक आ गयी है, एक-दूसरे का एक-दूसरे पर अति शीघ्र परिणाम होने की स्थिति प्रगति उपस्थित है।

सत्त्वगुण की विजय

लोग मुझसे पूछते हैं "दुनिया में हिंसा की हवा बह रही है, हिन्दुस्तान उससे कैसे बचेगा?" मैं उनसे कहता हूँ : "हिन्दुस्तान में हम अहिंसा की हवा निर्माण करेंगे, तो फिर दुनिया उससे कैसे बचेगी?" दुनिया का मुझ पर असर होता है, ऐसा कहनेवाले से मैं कहता हूँ : 'आपसे क्या तू इतनी बात भी नहीं समझता कि अगर मुझ पर दुनिया का असर होता है तो मेरा भी दुनिया पर असर होगा। दुनिया में सत्त्वगुण में जो शक्ति है वह रजोगुण या तमोगुण में नहीं। जिसका बल प्रस्थापित है उसीका परिणाम सारी दुनिया पर होगा। जिसका बल रजोगुण या तमोगुण का है, उसका परिणाम सत्त्वगुण पर होना सम्भव नहीं। ध्यान रखो कि रजोगुण में बहुत जुआ तो जोश रहता है, लेकिन बुद्धि नहीं और बिना बुद्धि का जोश आखिर व्यर्थ ही हो जाता है। बुद्धि के सामने उसका कुछ भी नहीं चल पाता। सत्त्वगुण में बुद्धि है इसलिए हिन्दुस्तान अगर सत्यनिष्ठा का एक संकल्प निर्माण करे तो वह कल्याणकारी होगा। आज दुनिया हिंसा से इतनी परेशान है कि इस तरह के संकल्प के लिए विचारवान् लोगों के मन अनुकूल हो गये हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान का संकल्प सारी दुनिया में फैल सकता है। हम उसे फैलाने की हिम्मत रखें और काम में लग जायें।

सरस्वती-भवन औरंगाबाद
२१. १. ४९

लोग पूछते हैं कि आपने यह नया शब्द ('सर्वोदय') क्यों निकाला ? वस्तुतः यह नया शब्द नहीं। गांधीजी ने कई साल पहले इसका उपयोग किया है। लेकिन इस समय नये सिरे से इसका व्यापक प्रचार किया जा रहा है। लोगों में भी अब यह शब्द चल पड़ा है। लेकिन सर्वोदय के अर्थ की ठीक ठीक कल्पना अभी तक बहुत लोगों को नहीं हुई है। जहाँ अर्थ ही ठीक तरह मालूम न हो वहाँ उसकी अमल का विचार दूर की बात है।

स्वराज्य के बाद का प्रेरक शब्द

'सर्वोदय' शब्द अगर इस समय न आया होता तो स्वराज्य-प्राप्ति के बाद या तो हम ध्येयविहीन बन जाते या गलत ध्येय में फँसते। हमारा ध्येय क्या होना चाहिए, इसका 'सर्वोदय' शब्द ठीक-ठीक दर्शन कराता है। आज तक हमें 'स्वराज्य' शब्द से प्रेरणा मिलती रही। दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए तपस्या की। कांग्रेस और दूसरे लोगों ने ७ -८ साल इसके लिए परिश्रम किया और अब एक तरह का स्वराज्य हमें प्राप्त हुआ है। स्वराज्य-प्राप्ति से पहले यह शब्द हमें प्रेरणा दे रहा था। लेकिन अब कोई ऐसा दूसरा शब्द चाहिए जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में हमें प्रेरणा दे। 'सर्वोदय' ऐसा ही शब्द है। स्वराज्य का अर्थ भी 'सर्वोदय' के अन्तर्गत ही था क्योंकि जब तक यह देश दूसरे के पंजे में गुलाम पड़ा था तब तक उसका उदय होना सम्भव ही न था। इसलिए पहले देश को आजाद करने की ही जरूरत थी। वह सर्वोदय की पहली सीढ़ी थी। इसके आगे उसके उदय का ध्येय आँखों के सामने रखकर हमें अपनी शिक्षा, सभ्यता और नित्य के व्यवहार में सतर्कता रखनी चाहिए।

प्राचीन ग्रन्थों में सर्वोदय-कल्पना

सर्वोदय की कल्पना हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी मिलती है। ऋषि गाता है

सर्वे नः सुखिनः संतु। उसने 'सर्व' शब्द में न केवल मानव-समाज का ही बल्कि उन जानवरों का भी समावेश कर दिया है, जिन्हें मानव ने अपने परिवार का एक हिस्सा मान लिया था। सब प्राणियों को तो हम अपने परिवार में स्थान दे नहीं सकते। हम जिनका उपयोग कर सकते हैं, उन्हींकी रक्षा कर सकते हैं। बाकी सब प्राणियों की रक्षा करने के लिए तो भगवान् बैठा ही है। मनुष्य गाय-बैलों का उपयोग करता है, इसलिए उन्हें उसने अपने परिवार में स्थान दिया है। ऋषि कहता है 'शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' याने हम दो पाँववालों और चार पाँववालों (मनुष्य और गाय) का भला हो।

हमारी परतन्त्रता का कारण

एक जमाना था जब गायों की अच्छी रक्षा होती थी। दिलीप-जैसा राजा गाय की सेवा में किस तरह निष्ठापूर्वक तन्मय हो गया था महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में इसका सुन्दर वर्णन कर गोसेवा का एक अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया है। ऐसा ही चरित्र भगवान् कृष्ण का है। इसीलिए हिन्दुस्तान में गोपालकृष्ण का नाम चल पड़ा। लेकिन यह बात आगे नहीं रही और हम गायों की उपेक्षा करने लगे। प्राणियों की बात छोड़ दें मानव-मानव के साथ भी हम [illegible] में बरताव करने लगे और इसी कारण यह देश बरसों परतन्त्र बना रहा।

अब स्वराज्य मिला है तो हमें 'सर्वोदय' का ध्येय सिद्ध करना है। पहले हम मानव-मानवों के साथ प्रेममय व्यवहार करना सीखें। दुनिया में शायद [illegible] कोई देश हो जहाँ एक मानव दूसरे मानव पर आक्रमण न [illegible] है, [illegible] की चिन्ता की जाती हो और उच्च-नीच भाव न हो।

चातुर्वर्ण्य की मूल कल्पना

[illegible] में चातुर्वर्ण्य के नाम पर उच्च-नीच भाव पैदा हो गया। मूलतः [illegible] एक सहकारी संस्था के तौर पर बना था। उपनिषदों में वचन आता [illegible] में केवल एक ही वर्ण था। उस वर्ण से सारे काम पूरे न हो पाये तो [illegible] क्षत्रिय वर्ण और बाद में वैश्य-वर्ण बनाया गया। उससे भी [illegible] —यानी सबका पालन करनेवाला वर्ण निर्माण [illegible] और चारों वर्णों की योग्यता दूसरे

सब वर्णों के बराबर है बशर्ते हरएक वर्ण अपना काम निष्ठापूर्वक करे। गीता में तो बतलाया ही है कि जो अपनी सेवा भगवान् को अर्पण करता है, वह चाहे किसी भी वर्ण का क्यों न हो मोक्ष का अधिकारी बनता है। एक मामूली झाड़ लगानेवाला और एक महान् ज्ञानी, दोनों अगर अपना काम बराबर और ईश्वर समर्पण-बुद्धि से करते हैं तो दोनों की योग्यता समान है और दोनों मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। लेकिन यह तो हुई मूल शास्त्रकार की कल्पना। आगे उसमें दोष उत्पन्न हुए और उच्च-नीच-भाव दाखिल हुआ। उससे भेद ब्राह्मण उत्तम नीच क्षत्रिय आदि अब सीढ़ियाँ बन गयीं तब हिन्दू-धर्म का ह्रास हुआ।

इस्लाम के प्रसार का कारण

इस हालत में दूसरे धर्मों के लोग यहाँ आये, तो उनके धर्म का प्रचार यहाँ शीघ्रता से हुआ क्योंकि इस तरह का ऊँच-नीच-भाव उनके धर्मों में नहीं था। सबके साथ उन्होंने समानता से व्यवहार कर सबका प्रेम संपादन किया। मुसलमानों या ईसाइयों ने अपने धर्म का प्रचार यहाँ केवल सत्ता के बल पर किया यह पूर्ण सत्य नहीं। ईसाई एक हजार साल पहले दक्षिण भारत में आये थे, जब कि उनकी सत्ता अभी तीन सौ साल पहले यहाँ कायम हुई थी। इस्लाम का प्रचार भी मुसलमान राजाओं ने नहीं फकीरों ने किया। उस समय हिन्दुस्तान की जनता पर फकीरों का असर कितना था इसकी कल्पना शिवाजी के उस कथन से मिलती है जिसमें उसने कहा है कि "हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए मैंने फकीरी अपनायी है। उन दिनों फकीरों के लिए इतना आदर था। उन्होंने यहाँ समानता का प्रचार किया। हिन्दू-धर्म में पड़ी विषमता के विरोध में इस्लाम की यह समानता लोगों को आकर्षक मालूम हुई इसलिए पिछली सदियों के वर्षों में इस नये धर्म को स्वीकार किया ऐसा साफ इतिहास है।

सामाजिक विषमता मिटायी जाय

अगर हम यह इतिहास ठीक से ध्यान में लें तो हमें इसमें से सुधार की दिशा मिल सकती है। हम जब सर्वोदय का विचार करते हैं तो ऊँच-नीच-भावात्मक यह वर्ण-व्यवस्था दीवार की तरह सामने खड़ी हो जाती है। उसे तोड़े बिना सर्वोदय स्थापित न होगा। जिस समाज के वर्गों में सरासर भेद होने की

मानना से इसे आरम्भ किया उसी समाज में आज मानव-मानव के बीच का विषमभाव यहाँ तक पहुँच गया है कि कुछ मानवों के स्पर्श में भी पाप माना जाता है। इन सारे भेदों को मिटाना ही होगा।

आर्थिक विषमता दूर करें

इस प्रकार जैसे सामाजिक क्षेत्र में काम करना होगा वैसे ही आर्थिक क्षेत्र में भी करना होगा। यन्त्रों के कारण आर्थिक विषमता और भी बढ़ी है। कुछ लोगों के हाथ में अधिक सम्पत्ति जमा होती है तो कुछ लोगों को काम ही नहीं मिलता। लोग मानते हैं कि मिल का कपड़ा सस्ता पड़ता है। लेकिन मिलों के कारण जो लोग बेकार हो जाते हैं उन्हें समाज को खिलाना पड़ता ही है। उसका खर्च मिलों पर चढ़ाकर हिसाब कीजिये तो मालूम होगा कि मिल का कपड़ा खादी से कई गुना महँगा पड़ता है। यन्त्रों के कारण यूरोप-अमेरिका जैसे देशों में भी यह हालत हो गयी है और आर्थिक विषमता बढ़ी है। जब हम सर्वोदय का ध्येय सामने रखकर काम करें, तभी यह समस्या हल हो सकती है।

जाति-भेद नष्ट किये जायँ

सर्वोदय को सफल बनाने के लिए हिन्दू मुसलमान आदि जाति-भेदों को भी मिटाना होगा। ये अलग-अलग धर्म उपासना के अलग-अलग प्रकार हैं यह समझना चाहिए। भगवान् अनन्तगुणी है इसलिए उसकी उपासना के प्रकार भी अनन्त हो सकते हैं। लेकिन उसके कारण हमारे मन में द्वेष-भावना पैदा न होनी चाहिए। इस दृष्टि से हमारी विधानसभा ने अभी जो प्रस्ताव पास किया है वह बहुत ही महत्त्व का है। उसका अर्थ यह है कि इसके आगे धर्म के आधार पर कानून में कोई भेद-भाव न किया जायगा। सामाजिक भेद-भाव मिटाना और आर्थिक विषमता दूर करना दोनों मिलकर सर्वोदय बनता है।

साधन-शुद्धि की आवश्यकता

इसमें और एक तीसरी कल्पना है। सर्वोदय की दृष्टि से जो समाज रचना करनी है उसका आरम्भ अपने निजी जीवन के परिवर्तन से करना है। हमें यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि हम व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में असत्य और

हिंसा का उपयोग न करेंगे। हम समाज की विषमता को अहिंसा से ही मिटाना चाहते हैं। समता तो कम्युनिस्ट भी चाहते हैं लेकिन उनकी समता का ख्याल हमारी कल्पना से भिन्न है। हरएक गाँव और हरएक व्यक्ति स्वावलम्बी होना चाहिए, यह उनकी कल्पना में नहीं है। वे मानते हैं कि अच्छे साध्य के लिए चाहे जो साधन इस्तेमाल कर सकते हैं। लेकिन अगर हिन्दुस्तान में यह बात चली, तो सर्वोदय तो दूर रहा हमारा स्वराज्य भी खतरे में पड़ जायगा। अगर यह मर्यादा न रही कि उद्देश्य किसीका कुछ भी हो तो भी हिंसक साधनों का उपयोग हम करेंगे ही नहीं तो हिन्दुस्तान खतम हो जायगा। चीन और बर्मा की मिसालें हमारे सामने हैं ही।

स्वयं अमल में लाना ही सर्वोत्तम प्रचार

इसलिए मैं कहता हूँ कि सर्वोदय की कल्पना से जवानों में उत्साह का संचार होना चाहिए। सारी दुनिया में सर्वोदय को फैलाने का काम इसके आगे करना है। लेकिन जो निज का उद्धार करता है वही दुनिया के उद्धार का रास्ता खोल देता है। इसलिए सर्वोदय की कल्पना का ठीक अध्ययन करके उसका अपने जीवन में अमल शुरू कर देना चाहिए।

प्रार्थना-सभा भरतपुर
११ १ ४

अभी हम लोगों ने कुछ सुन्दर अर्थवाले श्लोक सुने। उनमें दो श्लोक ऐसे थे, जिनमें यह इच्छा प्रकट की गयी है कि "सबका भला हो, सब सुखी और स्वस्थ रहें। ये बहुत पुराने श्लोक हैं। हममें से बहुत-से इन्हें जानते हैं और कितने ही रोज कहते भी हैं।

दुहरी इच्छा

आजकल हमने गांधीजी का 'सर्वोदय' शब्द अपनाया है। यह शब्द नया-सा दीख पड़ता है किन्तु इसका सारा भाव इन श्लोकों में मिलता है। फिर भी 'सर्वोदय' शब्द नया क्यों लगता है? सबका भला न हो, ऐसा चाहनेवाले दुनिया में शायद ही कोई हों। और जो होंगे भी तो उनकी मनोवृत्ति आसुरी ही होगी। मैं नहीं मानता कि उनमें मानवीय प्रेरणा होगी। जिनमें मानवीय प्रेरणा होती है वे सबका भला तो चाहते ही हैं पर अपना भी भला चाहते हैं। सबका भला न चाहनेवाले बहुत ही कम होंगे और अपना भला न चाहनेवाले शायद ही कोई मिलें। किन्तु सबके भले और अपने भले के बीच समन्वय कैसे हो

शुभ इच्छा का स्वरूप

हमारी हालत यह है कि हम सबकी भलाई के साथ-साथ अपना भी भला चाहते हैं। किन्तु सवाल यह है कि इन दो में से हमारी पहली इच्छा कौन-सी है? अगर पहले सबका भला चाहने की इच्छा हो तो वह सर्वोदय की मनोवृत्ति कही जायगी। अगर इससे उलटी मनोवृत्ति हो अर्थात् पहले हमें सुख मिले और बाद में सबका तो उसे सर्वोदय की मनोवृत्ति नहीं कहा जा सकता। कारण जिसकी मनोवृत्ति इस प्रकार की होगी वह मुख्यतः अपना ही सुख चाहनेवाला होगा। सबके भले के बारे में उसकी भावना में गौण ही स्थान रहेगा। किन्तु

बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति जानता है कि मुझे सुख मिलने के बाद यदि सारी दुनिया दुःखी रहती है तो मेरा सुख भी टिक नहीं सकता। मैं सुखी रहूँ, इसलिए सभी सुखी रहें, इस भावना में भी कोई दम नहीं। चूँकि इसमें मेरा सुख ही प्रधान होता है, इसलिए यह भावना निर्वीर्य है। ऐसी भावना से कोई काम नहीं बनता। जिस इच्छा में त्याग की भावना नहीं, वह सुप्त इच्छा होती है। सोया हुआ विद्वान् भी अविद्वान् के बराबर होता है। जो विद्वान् सोया हुआ है उसकी विद्या का कोई उपयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार सुप्त इच्छा भी अनिच्छा के बराबर ही होती है।

माता की सर्वोदय-भावना

सर्वोदय में इच्छा यह रहती है कि पहले सबका उदय हो उसीमें मेरा भी उदय होगा। जब तक सबका उदय नहीं होगा तब तक मैं अपना उदय नहीं चाहता। माँ यही कहती है कि जब तक मेरे सब बच्चों को पानी नहीं मिल जाता, तब तक मैं पानी न पीऊँगी। मान लीजिये, उसके पास एक लोटा पानी है। वह तब तक स्वयं पानी न पीयेगी जब तक कि सारे बच्चों की प्यास नहीं बुझ जायगी। पानी न पीने पर भी वह आन्तरिक सुख का अनुभव करती है। यही माता का मातृत्व है। इसका मतलब यही हुआ कि अपने बच्चों के साथ माता की यह सर्वोदय की भावना है। निस्सन्देह उसकी भावना उसका समाज या उसका 'सब' अपने बच्चों तक ही सीमित है इसलिए उसकी सर्वोदय भावना भी उस परिमाण में सीमित ही कही जायगी। यह उपमा सर्वोदय का अंश प्रकट कर दिग्दर्शन के लिए दी गयी है।

सबके अन्त में मैं

साधक सबकी भलाई के लिए त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए और इस त्याग में होनेवाले बाह्य दुःख में आन्तरिक सुख का ही अनुभव होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि बाहरी तौर पर दुःख भोगते हुए भी आन्तरिक दृष्टि से हम सुखी ही रहेंगे। जो अपनी आत्मा का कल्याण चाहते हैं वे बाह्य कष्टों से कभी घबराते नहीं। जिस समाज में ऐसी भावना होती है उसमें प्रधान भाग यही त्याग रहता है। सब करने के बाद जो दुःख (देख

के बाद बचा हुआ प्रसाद) प्राप्त होता है उसीसे उसकी तृप्ति होती है। यह भोग भी अभोग जैसा ही है, क्योंकि वह त्यागमय होता है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं' इस श्लोक में भी यही बतलाया गया है कि मनुष्य सब कुछ अपने समाज को दे दे और जो सहज भाव से उच्छिष्ट मिल जाय उसीसे सन्तुष्ट रहे। यही सर्वोदय का स्पष्ट अर्थ है। इसी दृष्टि से यदि हम ये श्लोक पढ़ें तो ये सर्वोदय के श्लोक साबित होंगे। सर्वोदय के लिए मानव में केवल आसुरी मनोवृत्ति का न होना ही काफी नहीं। उसमें उत्तम मानवीय वृत्ति का होना भी जरूरी है और वह यह है कि 'मैं सबके पीछे और बाकी सब मेरे आगे'!

राजघाट, दिल्ली
२७-६ ५९

जहाँ जाता हूँ, वहाँ लोगों को सर्वोदय-समाज क्या है, यह जान लेने की उत्सुकता रहती है। इन दिनों यह कल्पना हिन्दुस्तानभर में फैल गयी है और लोगों को इसके बारे में आशा भी है। लेकिन सर्वोदय-समाज कोई आसमान से टपकेगा नहीं, हम लोगों को ही उसे बनाना है। अगर हम अपने जीवन में सर्वोदय-समाज नहीं उतारते, तो उसे दुनिया में न ला सकेंगे। सर्वोदय का अर्थ है सबका भला, सबकी उन्नति। समाज में जो लोग पिछड़े हुए हैं, गरीब और दुर्बल हैं, उनका भी समाज में उतना ही स्थान होना चाहिए, जितना दूसरे लोगों का है।

दुनिया में कोई सच्चा सुखी नहीं

यह 'सर्वोदय' शब्द नया नहीं है और न इसकी कल्पना ही नयी है। सर्वोदय के बारे में हम अति प्राचीन काल से कहते और सोचते आ रहे हैं। 'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु' सब सुखी हों, कोई भी दुःखी न हो, यह भावना सब धर्मों में है। लेकिन यद्यपि यह विचार हम लोगों के धर्मों में अच्छा है, फिर भी उस पर अमल नहीं हुआ है। आज दुनिया में जो कुछ दीख पड़ता है, वह सब इसके विपरीत है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि यह विचार दुनिया में फैल नहीं सकता। वास्तव में दुनिया इस समय बहुत ही दुःखी है और इससे उदय का रास्ता कोई बताये, तो देखना चाहती है। लेकिन सभी एक ऐसे प्रवाह में खींचे जा रहे हैं कि उन्हें वह रास्ता मिल ही नहीं पाता। लोग कहते हैं कि यह यन्त्र-युग आ गया है और अब बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन होना चाहिए। वे उत्पादन बढ़ाने की कोशिश करते हैं, फिर भी लोगों को खाने को नहीं मिल रहा है। इतने बड़े देश को बाहर से अनाज मँगाना पड़ता है। आज हिन्दुस्तान में जितना दुःख है, उससे भी ज्यादा दुःख चीन में है। वहाँ भी हिन्दुस्तान-जैसी बड़ी जनसंख्या है। दुनिया के दूसरे देशों में भी

आज जनता सुखी नहीं। अवश्य ही कुछ लोग मौज-मजा कर रहे हैं लेकिन उन्हें भी सच्चा सुख नहीं मिल पाता। वे एक कृत्रिम जीवन जी रहे हैं। जो स्वयं शरीर-श्रम नहीं करते, उन्हें भूख भी नहीं लगती। व्यायाम इत्यादि नहीं होता इसका उन्हें दुःख है। चूँकि वे दूसरों को लूटकर श्रीमान् बने हैं, इसलिए उनके तो हृदय को शांति नहीं मिलती और न समाधान ही मिलता है। मैंने ऐसे कितने ही श्रीमान् देखे हैं, जो सुख न मिलने के कारण रोते हैं। वे पूछते हैं कि सुख कैसे मिलेगा, इसका रास्ता बताइये। पेट में भूख नहीं, चित्त में समाधान नहीं। समाज में लोग उन्हें प्रेम-भाव से नहीं देखते। उन्होंने दुनिया की कोई सेवा नहीं की इसलिए दुनिया भी उन पर प्रेम नहीं करती। फिर जिन्हें स्वास्थ्य प्राप्त नहीं प्रेम प्राप्त नहीं शांति प्राप्त नहीं उनको सुख क्या मिलेगा? सारांश दुनिया में जो श्रीमान् समझे जाते हैं, वे भी सुखी नहीं और जो गरीब मजदूर काम करते हैं उनको भी सुख नहीं है, क्योंकि उनके जीवन की आवश्यकतायें पूर्ण नहीं होतीं। इस तरह सारी दुनिया आज दुःख का अनुभव कर रही है।

विज्ञान बढ़ने पर भी सुख नहीं मिलता

पहले जमाने में सुख के जितने साधन थे, आज उनसे हजारों गुना अधिक साधन बढ़ गये हैं। यहाँ का 'पाश्चर इन्स्टीट्यूट' आज मैंने देखा। यहाँ लोगों के रोग दूर करने के लिए तरह-तरह के प्रयोग किये जाते हैं। यहाँ कुछ जानवर रखे गये हैं। अभ्यास करने के लिए उनके शरीर में रोग पैदा किये जाते हैं। रोगों का निरीक्षण करने के लिए उन बेचारों में रोग पैदा कर उस पर इलाज आजमाते हैं। उनमें से जो नयी-नयी औषधियाँ निकलती हैं व समाज को दी जाती हैं। फिर भी दुनिया में रोग कम हो रहे हैं ऐसा कोई नहीं कहता। जो कहता है वह यही कहता है कि रोग बढ़ रहे हैं। जिन पशुओं या दूसरे जानवरों को पीड़ा दी जाती है वे अगर मनुष्यों से पूछें कि "रे इन्सान हमें पीड़ा देकर क्या तू सुखी हो रहा है? तो इसका हम यह जवाब दे सकेंगे कि "हम व्यस्त हो गये हैं।

फिर वह पूछेगा कि "हम भी समान हो और तुम्हारा भी रोग नहीं मिटता

तो तुम यह बुद्धि क्या रखती है ?", तो उसे हम क्या जवाब देंगे ? मतलब यह कि हम जानते ही नहीं कि जिन्दगी कैसे जीयें।

मानव-जीवन का सार्थक्य किसमें ?

हमारे शास्त्रकारों ने हमें बार-बार समझाया है कि यह मनुष्य-देह अत्यन्त दुर्लभ है, बहुत पुण्य से मिलती है। आखिर मनुष्य-देह को भाग्य का और पुण्य का लक्षण क्यों समझते हैं ? इसीलिए कि दूसरे प्राणी स्वार्थी होते हैं वे दूसरों की सेवा करना नहीं जानते। मनुष्य-जन्म में ही सेवा हो सकती है। भूख लगने पर खाने की इच्छा जैसे हर प्राणी को होती है, वैसे ही मनुष्य को भी। लेकिन मनुष्य की खूबी यह है कि वह दूसरे को खिलाकर खुद भूखा रह सकता है और उसीमें आनन्द का अनुभव कर सकता है। इस आनन्द का अनुभव पशु कर ही नहीं सकते। पशु-जन्म पाप भोगने के लिए है और देवताओं का जन्म पुण्य भोगने के लिए। दोनों के जीवन में पुरुषार्थ के लिए स्थान नहीं है। किन्तु मनुष्य-जन्म पुरुषार्थ के लिए है। उसमें न तो पाप भोगना है और न पुण्य ही बल्कि सेवा करनी है। इसीलिए मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ माना है और देवता भी इस जन्म की इच्छा रखते हैं। इस तरह का मनुष्य-जन्म हमें मिला है, फिर भी हम अपना ही स्वार्थ देखते हैं दूसरों की परवाह नहीं करते। तब शांति कैसे मिलेगी ? सर्वोदय का अर्थ यही है कि हम सब फिक्र रखें।

ईश्वर हरएक की कसौटी देख रहा है

यहाँ कुनूर में और ऊटी (उटकमंड) में श्रीमान् पड़े हैं और गरीब भी। श्रीमान् आराम में रहने का आग्रह कर बैठे हैं वे गरीबों की परवाह नहीं करते। अगर ऐसा ही चलता रहा तो उन्हें सच्चा सुख न मिलेगा और गरीब भी सुखी न होंगे। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है कि 'मनुष्यो एक-दूसरे पर प्रेम करो एक-दूसरे की मदद करो एक-दूसरे की सेवा करो तो तुम्हारा भला होगा।" मानव-समाज की उन्नति परस्पर सहकार से ही होगी। जो भाग्यवान् हैं जिनके पास बुद्धि बल और पैसा अधिक हो उनका काम है कि दूसरों की रक्षा करें। भगवान् हरएक की परीक्षा कर रहा है। अगर किसीको वह अधिक भाग्यशाली बनाता है तो उसकी परीक्षा करता है। श्रीमान् की परीक्षा वह यह

करता है कि 'उसे पैसा दिया है, देखें, अब वह उसका उपयोग गरीबों के लिए करता है या नहीं। अगर वह गरीबों की सेवा के लिए पैसे का उपयोग नहीं करता तो भगवान् की परीक्षा में फेल हो गया। भगवान् ने किसीको गरीब बनाया है तो वह उसकी भी परीक्षा कर रहा है। गरीब मनुष्य गरीबी के कारण अगर दीन बन गया तो वह भी भगवान् की परीक्षा में फेल हो गया। न तो गरीब को दीन बनना चाहिए और न श्रीमान् को उन्मत्त। इस तरह श्रीमान् और गरीब दोनों की परीक्षा हो रही है।

सबका प्रेम पाना ही जीवन का साफल्य

इसलिए हमें यह ध्यान लेना चाहिए कि इस छोटी-सी जिन्दगी में यह हमारी परीक्षा हो रही है। फिर जितने भी थोड़े दिन इस दुनिया में जीना है, सबकी सेवा करके सब पर प्रेम करके सबका प्रेम पा करके ही जाना चाहिए। जिसने दुनिया में पैसा कमाया लेकिन प्रेम गँवाया उसने कुछ नहीं कमाया। जिसने दुनिया में आकर ज्ञान कमाया लेकिन प्रेम नहीं तो उसने कुछ नहीं कमाया। जिसने दुनिया में बल-सम्पादन किया लेकिन सबका प्रेम नहीं, तो उसने कुछ भी सम्पादन नहीं किया। इसलिए भाइयो सब पर प्रेम करो और सबका प्रेम प्राप्त करो यही सर्वोदय का सन्देश है।

कुन्नूर कोयम्बतूर
२ ४ ५६

आज मैं आप लोगों के सामने शरीर की कुछ कमजोर हालत में उपस्थित हूँ इसलिए आपसे क्षमा माँगता हूँ। कोशिश तो मेरी यही रहेगी कि अपनी बात थोड़े में आपके सामने रखूँ।

किशोरलालभाई का स्मरण

जैसा कि शङ्करराव देव ने किया मैं भी पूज्य किशोरलालभाई का स्मरण कर अपना भाषण आरम्भ करना चाहता हूँ। जो एक महान् कार्य ईश्वर ने हमें सौंपा और जिसकी हमने ईश्वर और जनता के सामने दीक्षा ली है उस भूमिदान के काम में किशोरलालभाई अत्यन्त तन्मय हो गये थे। गीता ने हमें जीवन की यह एक खूबी बतायी है कि "कर्म में अकर्म और अकर्म में भी कर्म हो सकता है। वे शरीर से बहुत कमजोर थे इसलिए जिसे हम 'स्थूल कर्म' कहते हैं उसे तो वे अधिक न कर पाते थे। चौबीस घंटे वे कुछ-न-कुछ करते ही रहते थे फिर भी उस कर्म का स्थूल आकार बहुत बड़ा न दीखता था। लेकिन उन्होंने हमें यह दिखा दिया कि कर्म न कर सकने की हालत में भी कितना महान् काम हो सकता है। जिनका हृदय निर्मल होता है परमेश्वर की कृपा से जिनके राग-द्वेष धुले होते हैं ऐसे मनुष्यों का केवल अस्तित्व ही बहुत काम कर जाता है। ऐसे जो भी थोड़े लोग दुनिया में अवतरित होते हैं, उनमें मैं किशोरलालभाई को गिनता हूँ। बापू के बाद हम लोगों को उन्हींका सहारा था और वे अपने सहज सौजन्य से हमें सँभाल भी लेते थे। इतनी शक्ति हममें से दूसरे किसीमें अभी तक प्रकट नहीं हुई है। इसलिए उनका अभाव हमें बहुत खटक रहा है और खटकता रहेगा। इस अभाव की पूर्ति हम अपने आपसी सद्भाव और सौहार्द से ही कर सकते हैं। मैं आशा करता हूँ कि वैसा सौहार्द, सौजन्य, सहकार और बन्धुभाव हम लोगों में रहेगा और ईश्वर का कार्य हमारे जरिये सम्पन्न होगा।

सिंहावलोकन

हम एक कार्यकर्ता की जमात हैं। यहाँ सम्मेलन में आते हैं, तो कुछ बातें करते हैं। लेकिन यह बोलना भी हमारा काम ही होता है। यह कोई केवल मनोरंजन नहीं हो सकता, कर्तृत्व का ही एक हिस्सा होता है। हम लोग इसीलिए एकत्र होते हैं कि सालभर जो कुछ काम किये हों, नारायण को समर्पित कर दें और अगले वर्ष के काम के लिए कुछ पाथेय साथ ले जायें। ऐसे मौकों पर हम लोग कुछ विचार-विनिमय, विचारों की लेन-देन भी कर लेते हैं। इसी दृष्टि से आज हमें अपने काम की पृष्ठभूमि देख लेना और काम का भी संशोधन कर लेना चाहिए। इस तरह 'कार्य-पद्धति' 'कार्यक्रम' और 'काम-रचना' तीनों पर हमें थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

दुनिया की वर्तमान स्थिति

हम दुनिया के किसी भी भाग में काम क्यों न करते हों, आज दुनिया की ऐसी हालत नहीं कि सारी दुनिया पर नजर डाले बगैर हमारा काम चल जाय। दुनिया में जो ताकतें काम कर रही हैं, जो नये प्रवाह शुरू हैं, कल्पनाओं और भावनाओं का जो संस्पर्श और संघर्ष हो रहा है, उन पर सतत दृष्टि रखकर ही जो भी छोटा-सा कदम हम उठाना चाहें, उठा सकते हैं। समुचित दृष्टि के बिना किया गया कर्म अन्धा हो जाता है। इसलिए दुनिया की हालत का खयाल करना जरूरी है। आज हम देख रहे हैं कि दुनिया की हालत बहुत अस्थिर है। इतना ही नहीं, बहुत कुछ स्फोटक भी है। कई संकट सामने खड़े हैं, कह नहीं सकते कि किस समय ज्वालामुखी का स्फोट होगा। यह कुछ नाहक भयावना चित्र मैं नहीं खींच रहा हूँ। इससे भयभीत होने का मेरा इरादा नहीं और न आपको ही भयभीत करना चाहता हूँ। बल्कि जो हालत है, सिर्फ उसी ओर ध्यान खींचना चाहता हूँ। कहा नहीं जा सकता कि दुनिया में किस क्षण क्या होगा। ऐसी अस्थिर मनःस्थिति और परिस्थिति आज दुनिया में है।

हमारी विचित्र स्थिति

एक-दो महीने पहले की बात है। दिल्ली में कुछ ज्ञानी विद्वान् एकत्र हुए और उन्होंने अहिंसा दर्शन के बारे में कुछ चिन्तन-मनन और विचार किया।

बुद्धि कहती है कि 'सेना बनानी होगी, इसलिए जिससे सेना-यन्त्र मजबूत बन सकेगा ऐसे यन्त्रों को भी स्थान देना होगा।'' जिनकी चरखे पर श्रद्धा कम है उनकी बात छोड़ देता हूँ। लेकिन जिनकी श्रद्धा चरखे पर है उनसे यह सवाल पूछा जाता है कि क्या चरखा और ग्रामोद्योग के जरिये आप युद्ध-यन्त्र मजबूत बना सकते या खड़ा कर सकते हैं? तो उनकी बुद्धि—अर्थात् हमारी भी बुद्धि, क्योंकि उनमें हम भी सम्मिलित हैं—कहती है कि 'नहीं, इन छोटे छोटे उद्योगों के जरिये हम युद्ध-यन्त्र खड़ा नहीं कर सकते।

'कम्युनिटी प्रोजेक्ट' अभी तो थोड़े-से देहातों में आरम्भ हुआ है। लेकिन सरकार यही चाहती है कि वह पाँच लाख देहातों में चले। वह अधिक व्यापक बने और उसके जरिये राष्ट्र समृद्ध तथा स्वावलम्बी हो, देश की गरीबी मिटे। पर कल अगर दुनिया में महायुद्ध छिड़ जाय, तो मैं कह नहीं सकता कि एक भी 'कम्युनिटी प्रोजेक्ट' जारी रहेगा। जिन्होंने इस योजना का उपक्रम किया, वे भी नहीं कह सकते कि वह जारी रहेगा। तब फौरन बुद्धि जोर करेगी और हृदय छिप जायगा। हृदय पर बुद्धि सवार हो जायगी और कहेगी कि 'अब तो राष्ट्र-रक्षण ही मुख्य वस्तु है।''

जादू की कुर्सी

यह मैं आत्म निरीक्षण के तौर पर बोल रहा हूँ। जो आज जिम्मेदारी के स्थान पर बैठे हैं, उनकी जगह पर अगर हम बैठते, तो अभी वे जो कर रहे हैं उससे बहुत कुछ भिन्न हम करते, ऐसा नहीं है। वह स्थान ही ऐसा है। वह जादू की कुर्सी है। उस पर जो आरूढ़ होगा, उस पर एक संकुचित, सीमित, बने बनाये और अस्वाधीन दायरे में सोचने की जिम्मेदारी आ जाती है। व्यापारी ने दुनिया का प्रवाह जिस दिशा में बहता दीख पड़ता है, उसी दिशा में सोचने की जिम्मेदारी आती है। अमेरिका, रूस जैसे बड़े-बड़े राष्ट्र भी डरते हैं। हरएक एक दूसरे से डरता है। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान जैसे कम ताकतवर राष्ट्र भी [illegible] है। इस तरह एक दूसरे का डर रखकर शस्त्र-बल या सैन्य-बल [illegible] हम नहीं [illegible], यह विश्वास रखते हुए भी हम शस्त्र-बल [illegible] पर आधार [illegible]। उसका आधार नहीं छोड़ सकते ऐसी स्थिति [illegible] में हम [illegible]।

बन चुके हैं, वे कहते हैं कि अब आप वही काम मत करिये जो हम कर रहे हैं। जो कमियाँ हम महसूस करते हैं, उनकी पूर्ति अगर आप कर सकते हों, तो करें। इसी आशा से वे हमारी तरफ देखते हैं। अतः हम यह ठीक से समझ लेना चाहिए और जिसे मैं 'स्वतन्त्र लोक-शक्ति' कहता हूँ, उसीके निर्माण-कार्य में लग जाना चाहिए। तभी हम आज की सरकार की सच्ची मदद और अपने देश की समुचित सेवा कर सकेंगे।

दण्ड-शक्ति और लोक-शक्ति का स्वरूप

मैंने अभी ही कहा कि "हमें स्वतन्त्र लोक-शक्ति निर्माण करनी चाहिए।" मेरा मतलब यह है कि हिंसा-शक्ति की विरोधी और दण्ड-शक्ति से भिन्न, ऐसी लोक-शक्ति हमें प्रकट करनी चाहिए। हमने आज की अपनी सरकार के हाथ दण्ड-शक्ति सौंप दी है। उसमें हिंसा का एक अंश जरूर है, फिर भी हम उसे 'हिंसा' कहना नहीं चाहते। उसका एक अलग ही वर्ग करना चाहिए। क्योंकि वह शक्ति उनके हाथ में सारे समुदाय ने सौंपी है, इसलिए वह निरी हिंसा-शक्ति न होकर दण्ड-शक्ति है। उस दण्ड-शक्ति का भी उपयोग करने का मौका न आवे, ऐसी परिस्थिति देश में निर्माण करना हमारा काम है। अगर हम वह करें तो कहा जायगा कि हमने स्वधर्म पहचानकर उस पर अमल करना जाना। अगर हम ऐसा न कर दण्ड-शक्ति के सहारे ही जन-सेवा हो सकती या क्षेम रहे, तो जिस विशेष काम की हमसे अपेक्षा की जा रही है वह पूरी न होगी। सम्भव है कि हम भारभूत भी सिद्ध हों।

और भी थोड़ा स्पष्टीकरण कर दूँ। मैंने कहा कि दण्ड-शक्ति के आधार पर सेवा के काम हो सकते हैं और वैसा करने के लिए ही हमने राज्य-शासन चाहा और हाथ में भी लिया है। जब तक समाज को ऐसी जरूरत है उस शासन की जिम्मेदारी भी हम छोड़ना नहीं चाहते। सेवा तो उससे जरूर होगी; पर ऐसी सेवा न होगी जिसमें दण्ड-शक्ति का उपयोग ही न करने की स्थिति निर्माण हो। एक मिसाल दूँ। मान लीजिये लड़ाई चल रही है और सिपाही जख्मी हो रहे हैं। उन सिपाहियों की सेवा के लिए जो लोग जाते हैं, वे भूतदया से प्रेरित होते हैं। वे शत्रु-मित्र तक नहीं देखते और अपनी

जान खतरे में डालकर युद्ध-क्षेत्र में पहुँचते हैं। वे वैसी ही सेवा करते हैं जैसी माता अपने बच्चों की करती है। इसलिए वे दयालु होते हैं, इसमें शक नहीं। वह सेवा कीमती है यह हर कोई जानता है। फिर भी युद्ध को रोकने का काम वे नहीं कर सकते। उनकी यह दया युद्ध को मान्य करनेवाले समाज का एक हिस्सा है। जैसे एक यन्त्र में अनेक छोटे-बड़े चक्र होते हैं वे एक-दूसरों से भिन्न दिशाओं में भी काम करते हों, फिर भी उसी यन्त्र के अंग हैं। वैसे ही एक ही युद्ध-यन्त्र का एक अंग है कि सिपाहियों को जख्मी किया जाय और उसीका दूसरा अंग है जख्मी सिपाहियों की सेवा करें। उनकी परस्पर विरोधी दोनों गतियाँ स्पष्ट हैं। एक क्रूर कार्य है तो दूसरा दया का कार्य, यह हर कोई जानता है। पर उस दयालु हृदय की वह दया और उस क्रूर हृदय की वह क्रूरता दोनों मिलकर युद्ध बनता है। दोनों युद्ध चालू रखनेवाले दो हिस्से हैं। वैज्ञानिक कठोर भाषा में कहना हो तो युद्ध का जब तक हमने कबूल किया है तब तक चाहे हम उसमें जख्मी सिपाही की सेवा का पेशा लिये हों चाहे सिपाही का पेशा दोनों तरह से हम युद्ध के अपराधी हैं। यह मिसाल मैंने इसलिए दी कि हम सिर्फ दया का कार्य करते हैं इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि हम दया का राज्य बना सकेंगे। राज्य तो निष्ठुरता का ही रहेगा। उसके अन्दर दया रोटी के अन्दर नमक जैसी रुचि पैदा करने का काम करती है। जख्मी सिपाहियों की उस सेवा से दिल में स्वाद, युद्ध में रुचि पैदा होती है पर उस दया से युद्ध का अन्त नहीं हो सकता। अगर हम उस दया का काम करें जो निष्ठुरता के राज्य में प्रजा के नाते रहती और निर्दयता की हुकूमत में चलती है तो कहना होगा कि हमने अपना असली काम नहीं किया। इस तरह जो काम दया के या रचनात्मक भी दीख पड़ते हैं उन्हें हम दया या रचना के प्रेम से व्यापक दृष्टि के बिना ही उठाते हैं, तो कुछ तो सेवा हमसे बनेगी पर वह सेवा न बनेगी जिसकी जिम्मेवारी हम पर है और जिसे हमने और दुनिया ने स्वधर्म माना है।

प्रेम पर भरोसा

दूसरी मिसाल देता हूँ। मुझसे हर कोई पूछता है कि "आपका सरकार

पर भी कुछ कदम दीखता है। तो आप उस पर यह जोर क्यों नहीं डालते कि वह कानून बनाकर बिना मुआवजे के भूमि वितरण का कोई मार्ग खोल दे।" मैं उनसे कहता हूँ कि 'भाई, कानून के मार्ग को मैं नहीं रोकता। सिवा इसके जो मार्ग मैंने अपनाया है, उसमें यदि मुझे पूरा सोलह आने यश न मिला, बारह या आठ आने भी मिला तो भी कानून के लिए सहूलियत ही होगी। मतलब यह कि एक तो मैं कानून को बाधा नहीं पहुँचा रहा हूँ और दूसरे कानून को सहूलियत दे रहा हूँ। उसके लिए अनुकूल वातावरण बना रहा हूँ ताकि वह आसानी से बनाया जा सके। पर इससे भी एक कदम आगे आपकी दिशा में मैं जाऊँ और यही रटन रटूँ कि "कानून के बिना यह काम न होगा, कानून बनना ही चाहिए" तो मैं स्वधर्महीन सिद्ध होऊँगा। मेरा यह धर्म नहीं है। मेरा धर्म तो यह मानने का है कि "बिना कानून की मदद से जनता के हृदय में हम ऐसे भाव निर्माण करें, ताकि कानून कुछ भी हो तो भी लोग भूमि का बँटवारा करें। क्या माताएँ बच्चों को किसी कानून के कारण दूध पिलाती हैं? मनुष्य के हृदय में ऐसी एक शक्ति है जिससे उसका जीवन समृद्ध हुआ है। मनुष्य प्रेम पर भरोसा रखता है। प्रेम से पैदा हुआ और प्रेम से ही पलता है। आखिर जब दुनिया को छोड़ जाता है तब भी प्रेम की ही निगाह से चारों इर्दगिर्द देख लेता है और अगर उसके प्रेमीजन उसे दिखाई पड़ते हैं तो सुख से देह तथा दुनिया को छोड़ चला जाता है। प्रेम की शक्ति का इस तरह अनुभव होते हुए भी उसे अधिक सामाजिक स्वरूप में विकसित करने की हिम्मत छोड़कर अगर हम 'कानून-कानून' ही रटते रहें तो सरकार हमसे जन-शक्ति निर्माण की जो मदद चाहती है, वह मदद मैंने दी, ऐसा न होगा। इसीलिए हम दण्ड-शक्ति से भिन्न जन-शक्ति निर्माण करना चाहते हैं और वह निर्माण करनी ही होगी। यह जन-शक्ति दण्ड-शक्ति की विरोधी है, ऐसा मैं नहीं कहता। वह दण्ड की विरोधी नहीं, लेकिन दण्ड-शक्ति से भिन्न है।

हमारी कार्य-पद्धति

[illegible] चल रहा है। सरकार खादी को मदद [illegible] है। [illegible] मुझे भास हो रहा है कि जो

काम चार साल पहले ही हो जाना चाहिए था, वह इतनी देर से क्यों हो रहा है ? उनका दिल महान् है। वे आत्म-निरीक्षण करते हैं, इसीलिए ऐसी भाषा बोलते हैं। सरकार खादी को बढ़ावा देना चाहती है, उसका उत्पादन बढ़ाना चाहती है; इसलिए उसे इस काम में मदद देना हमारा और चरखा-संघ का काम है। चरखा-संघ को इस काम का अनुभव है और अनुभवियों की मदद ऐसे काम के लिए जरूरी होती है। फिर भी मैं सोचता हूँ कि एक जानकार नागरिक के नाते हमें सरकार को जितनी मदद अपेक्षित हो वह देनी चाहिए। लेकिन अगर हम उसीमें खतम हो जायें तो हमने खादी की वह सेवा नहीं की जैसी कि हमसे अपेक्षा है। हमें तो खादी विषयक अपनी दृष्टि स्पष्ट और शुद्ध रखनी चाहिए तथा उस दिशा में काम करते हुए सरकार को खादी-उत्पादन में जितनी मदद पहुँचा सकें वह पहुँचानी चाहिए। हमें युद्ध मिटाने के तरीके ढूँढ़ने चाहिए। फिर भी युद्ध चलते रहें और हमें जख्मी सिपाहियों की मदद में जाना पड़े तो उसके लिए भी जाना चाहिए। "यह तो युद्ध का ही हिस्सा है", यह कहकर हम उसका इनकार न करेंगे। पर यह अवश्य ध्यान में रखेंगे कि वह हमारा असली अहम काम नहीं है। हमारा खादी-काम ग्राम-राज्य की स्थापना के लिए है, इसे हम आँखों से ओझल न होने दें।

खादी-काम में सरकारी मदद की अपेक्षा

इस बार पं० नेहरू मिलने आये और बड़े प्रेम से बोले। मैंने नम्रता से उनका बहुत कुछ सुन लिया। फिर जब उन्होंने कुछ सलाह-मशविरा करना चाहा तो मैंने अपने विचार थोड़े में प्रकट किये। मैंने कहा : 'साक्षरता के विषय में सरकार का जो रुख है, हम चाहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग के बारे में वह वही रुख रखे। हरएक नागरिक को पढ़ना-लिखना आना ही चाहिए, क्योंकि वह नागरिकत्व का अनिवार्य अंग है, ऐसा हम मानते हैं। इसीलिए हमारी सरकार सबको शिक्षित बनाने, पढ़ना-लिखना सिखाने की जिम्मेदारी मान्य करती है। भले ही वह परिस्थिति के कारण उस पर पूरा अमल न कर पाये, आंशिक ही अमल करे। लेकिन जब तक उस पर पूरा अमल नहीं होता, सभी लोग पढ़ना-लिखना नहीं जान जाते, तब तक हमने अपना काम पूरा नहीं

किया यह सरकार उसके हित में होगा ही। वैसे ही हमारी सरकार यह विचार कबूल करे कि हिन्दुस्तान के हरएक ग्रामीण और हरएक नागरिक को कताई सिखाना हमारा काम है। जो ग्रामीण या नागरिक सूत कातना नहीं जानते, वे अशिक्षित हैं सरकार इतना मान ले। बाकी का सारा काम जनता कर लेगी। हम सरकार से पैसे की मदद न माँगेंगे। किन्तु अगर वह यह विचार स्वीकार कर लेती तो वह हमें अधिक-से-अधिक मदद देने जैसा होगा।" उन्होंने यह सब सुन लिया। मैं समझता हूँ कि उनके हृदय को तो वह जैसा ही होगा। पर उन्होंने विनोद में उन्होंने पूछा कि "अगर सबको सूत कातना सिखा दें तो उसके उपयोग का सवाल आयेगा।" मैंने जवाब दिया : "पढ़ना-लिखना सिखाने पर भी तो उसके उपयोग का सवाल रहता ही है।" मैंने ऐसे कई पढ़े-लिखे भाई देखे हैं जो थोड़ा-सा दो-चार साल पढ़े पर जिन्दगीभर उसका उनको कोई उपयोग नहीं हुआ। उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर हो जाता है। 'योग' के साथ 'क्षेम' लगा है इसलिए यह चिन्ता करनी ही पड़ती है। पर आप देखेंगे कि मैंने खादी के लिए सिर्फ इतनी ही माँग की है जब कि जनता की सरकार है और जनता की तरफ से माँग होगी तो सरकार को उसे पूरा करना चाहिए। परन्तु इससे आगे बढ़कर अगर मैंने कानून द्वारा लोगों पर खादी लादने की माँग की होती, तो कहना पड़ता कि मैंने अपना काम नहीं समझा—"दण्ड शक्ति से भिन्न लोकशक्ति हमें निर्माण करनी है" यह सूत्र मैं भूल गया।

अन्ततः दण्ड-निरपेक्षता ही अपेक्षित

मन में दो मिसालें रखता हूँ, एक खादी की और दूसरी भूमि-दान की। इस भूमि का मसला हल करने जायँ तो हमारा अलग तरीका होगा। लेकिन अगर लोकशाही सरकार उसे हल करना चाहेगी तो दण्ड-शक्ति का उपयोग करके उसे हल करना चाहेगी और हल करेगी। उसमें कोई दोष नहीं देखता, उसका दूसरा ही मार्ग है। लेकिन सरकार की इस तरह की मदद से जन-शक्ति निर्माण न होगी, लक्ष्मी भले हो निर्माण हो। हमारा उद्देश्य सिर्फ लक्ष्मी निर्माण करना नहीं बल्कि जन-शक्ति निर्माण करना होगा। यही सारी दृष्टि हमारे काम के पीछे है। जब यह दृष्टि स्थिर हो जाय तो फिर हमारी कार्य-पद्धति क्या होगी इसका विवेक

अर्पण करने की आवश्यकता न रहेगी। हर कोई सोचेगा कि प्रत्येक रचनात्मक काम में हमारी अपनी एक विशेष पद्धति होगी। इस पद्धति से काम करने में आखिर यही परिणाम अपेक्षित होगा कि लोगों में तन्त्र-निरपेक्षता निर्माण हो।

विचार-शासन और कर्तृत्व-विभाजन

इस दृष्टि से यदि सोचें तो सहज ही आपके ध्यान में आ जायगा कि हमारी कार्य-पद्धति के दो अंश होंगे : एक विचार-शासन और दूसरा कर्तृत्व-विभाजन। मुझे नया पारिभाषिक शब्द बनाने की आदत है, संस्कृत भाषा ही विशेष आती है। इसलिए संस्कृत शब्द ही एकदम सूझ पड़ते हैं। इसके लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।

'विचार-शासन' का अर्थ है विचार समझना और समझाना; बिना विचार समझे किसी बात को कबूल न करना; बिना विचार समझे अगर कोई हमारी बात कबूल कर ले, तो दुःखी होना और अपनी इच्छा दूसरों पर न लादते हुए केवल विचार समझाकर ही सन्तुष्ट रहना। कुछ लोग सर्वोदय-समाज की रचना का 'लूज आर्गनाइजेशन' यानी 'शिथिल रचना' करते हैं। अगर रचना शिथिल हो, तो कोई काम न बनेगा। इसलिए रचना शिथिल न होनी चाहिए। किन्तु सर्वोदय-समाज की रचना 'शिथिल रचना' न होकर 'अरचना' है, यानी हम केवल विचार के आधार पर ही यह रचना चाहते हैं। हम किसीको ऐसा आदेश न देंगे कि वे उन्हें बिना समझे-बूझे ही अमल में लायें। हम किसीके ऐसे आदेश कबूल भी न करेंगे कि बिना सोचे और पसन्द किये ही हम उन पर अमल करने लगें। हम तो केवल विचार-विनिमय करते हैं। कुरान में मुस्लिमों का लक्षण बताया गया है कि उनका कार 'अम्र' यानी काम परस्पर के मशविरे से होता है। ऐसा विचार-विनिमय हम जरूर करेंगे। हमारी बात सामनेवाला न जँचने के कारण न माने, तो हम बहुत खुश होंगे। अगर कोई बिना समझे-बूझे उस पर अमल करता है, तो हमें बहुत दुःख होगा। मैं ऐसी रचना में जितनी ताकत देखता हूँ, उतनी और किसी दूसरे तरह की अनुशासनबद्ध रचना में नहीं देखता। अनुशासनबद्ध सामूहिक रचना में शक्ति नहीं होती, सो बात नहीं। पर वह चित्त-शक्ति नहीं होती। हमें चित्त-शक्ति पैदा करनी है, इसलिए हम विचार-शासन को ही मानते हैं।

विचार के साथ प्रचार

अगर इतना हमारे ध्यान में आ जायगा तो विचार का निरन्तर प्रचार करना हमारा एक कार्यक्रम बनेगा जिसे हम अभी तक नहीं चला रहे हैं पर भविष्य में जोर से चलाना होगा। इस दृष्टि से अब मैं सोचता हूँ तो बुद्ध भगवान् ने भिक्षु-संघ और शंकराचार्य ने यति-संघ क्यों बनाये होंगे, इसका रहस्य कुछ आता है। यद्यपि उन संघों के जो अनुभव आये, उनके गुण-दोषों की तुलना कर मैंने मन में यह निश्चय किया है कि हम ऐसे संघ न बनायेंगे, क्योंकि उनमें गुणों से अधिक दोष होते हैं। फिर भी उन्हें संघ क्यों बनाने पड़े उसके पीछे क्या विचार रहा उस पर ध्यान देना चाहिए। निरन्तर, अखंड बहते हुए झरने की तरह सतत घूमनेवाले और लोगों के पास सतत विचार पहुँचानेवाले लोग होने चाहिए। उनके बगैर सर्वोदय-समाज काम न कर पायेगा। लोगों के पास पहुँचने और उनसे मिलने-जुलने के जितने मौके मिलें, उतने प्राप्त करने चाहिए। लोग एक बार कहने पर नहीं सुनते हैं तो दुबारा कहने का मौका मिलने से खुश होना चाहिए। हममें विचार प्रचार का इतना उत्साह और विचार पर इतनी श्रद्धा तथा इतनी निष्ठा होनी चाहिए।

लेकिन आज हमारी हालत तो ऐसी है कि हममें से बहुत-से लोग भिन्न-भिन्न संस्थाओं में फँस गये हैं। इसकी थोड़ी चर्चा बाद में करूँगा अभी सिर्फ उल्लेख मात्र किया है। यद्यपि ये संस्थाएँ महत्त्व की हैं, तो भी हमें उनकी आसक्ति नहीं भासित रहे। उनका काम जरूर जारी रहे लेकिन संस्था में कुछ मनुष्य ऐसे हों जो घूमते रहें। अगर हम इस तरह की रचना और ऐसा कार्यक्रम न बनायेंगे, तो हमारा विचार क्षीण होगा और विचार-शासन न चलेगा।

नियमबद्ध संघटन का एक दोष

बिहार के लोग कुछ अभिमान से कहते हैं और उन्हें अभिमान करने का हक भी है कि भूदान-यज्ञ का काम प्रथम बिहार-कांग्रेस ने ही उठाया और उसके बाद हैदराबाद में अ. भा. कांग्रेस ने उसे स्वीकार किया। लेकिन स्वीकार का मतलब क्या है? ऊपर से एक परिपत्र (सर्क्युलर) निकलता है: "भूदान में मदद देना कांग्रेसवालों का कर्तव्य है।" फिर जैसे गंगा हिमालय से निकली

और हरिद्वार आती है, वैसे ही वह परिपत्र प्रान्तिक समिति में पहुँचता है। हरिद्वार से आगे गंगा गढ़मुक्तेश्वर जाती है, वैसे ही वह परिपत्र भी प्रान्तिक समिति से जिला आफिस में आता है। गंगा कहीं से कहीं भी जाय, गंगा ही रहती है, वह पानी ही रहता है। इसी तरह परिपत्र से परिपत्र ही पैदा होते हैं। एक बार मैंने विनोद के तौर पर कहा था कि हर व्याधि अपनी ही व्याधि बढ़ाती है। वैसे ही परिपत्र भी परिपत्र ही पैदा कर सकता है। फिर काम कौन करेगा? काम तो करना होगा गाँववालों को ही। पर गाँव के लोगों तक वह पहुँचता कहाँ है? वह तो एक आफिस से दूसरे आफिस में और वहाँ से तीसरे आफिस में जाता है, सिर्फ इतना ही होता है।

घर-घर पहुँचने की जरूरत

इसलिए यह भूदान यज्ञ का कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि हम घर-घर न पहुँचें। पाँच लाख देहात से पचीस लाख एकड़ जमीन हम हासिल करना चाहते हैं। यों काम तो आसान दीखता है। प्रति गाँव पाँच एकड़ कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन उतने गाँवों तक पहुँचे कौन? इसलिए हमारे पास मुख्य साधन विचार-प्रचार का ही हो सकता है। उसकी योजना हमें करनी चाहिए, यही हमारा कार्यक्रम होगा।

लेकिन अगर उतनी हमारी हिम्मत न हो कि इतने गाँवों में हम कैसे पहुँचेंगे, कैसे घूमेंगे, यह डर लगता हो और जिसे अंग्रेजी में 'शार्ट कट' कहते हैं, उस मार्ग पर आप चलने लग जायँ कि "कानून बना दीजिये" तो वैसा कानून बनाना और वैसी इच्छा रखना हमारा काम नहीं। कानून जरूर बने, जल्द बने और अच्छा बने; पर उस काम में हम लगेंगे, तो वह शासन का आवाहन होगा, श्रम का आवाहन नहीं। इसलिए लक्ष्य तो यह होगा कि सब लोग घूमना शुरू करें और विचार का प्रचार करें। पर न कहें कि "[illegible] सुन-सुनकर। क्या काम होगा?" कारण विचार से ही काम होगा, हमारा काम विचार से ही हो सकता है। इसलिए यह विचार की गंगा, विचार-शासन इसका एक अंग है।

दूसरा साधन कर्तृत्व-विभाजन

दूसरा औजार है कर्तृत्व-विभाजन। माने सारी कर्मशक्ति, कर्मसत्ता एक केन्द्र में केन्द्रित न होकर गाँव-गाँव में निर्माण होनी चाहिए। इसलिए हम चाहते हैं कि हरएक गाँव को यह हक हो कि उस गाँव में कौन-सी चीज आये और कौन-सी चीज न आये इसका निर्णय वह खुद कर सके। अगर कोई गाँव चाहता हो कि उस गाँव में कोल्हू ही चले और मिल का तेल न आवे तो उसे उस गाँव में मिल का तेल आने से रोकने का हक होना चाहिए। जब हम यह बात कहते हैं तो सरकार कहती है कि 'इस तरह एक बड़ी स्टेट के अन्दर छोटी स्टेट नहीं चल सकती। मैं कहता हूँ कि अगर हम इस तरह सत्ता-विभाजन कर्तृत्व का विभाजन न करेंगे तो सैन्य-बल अनिवार्य है यह समझ लीजिये। आज तो सेना के बगैर चलता ही नहीं और आगे भी कभी न चलेगा। फिर कायम के लिए यह तय करिये कि सैन्य-बल से काम लेना है और उसके लिए सेना पुख्ता रखनी है। फिर यह न सोचिये कि हम कमी-न-कमी सेना से छुटकारा चाहते हैं।

भगवान् का कर्तृत्व-विभाजन

पर अगर कभी-न-कभी सेना से छुटकारा चाहते हो तो जैसा परमेश्वर ने किया वैसे ही हम भी करना चाहिए। परमेश्वर ने सबकी अक्ल का विभाजन कर दिया। हरएक को अक्ल दे दी—बिच्छू, साँप, शेर और मनुष्य को भी। कम-वेशी सही लेकिन हरएक को अक्ल दे दी और कहा कि अपने जीवन का काम अपनी अक्ल के आधार पर करो। फिर सारी दुनिया इतनी उत्तम चलने लगी कि अब वह खुद से विभाजित न सका। यहाँ तक लोगों को शंका होने लगी कि सचमुच दुनिया में परमेश्वर है या नहीं! हम भी राज्य ऐसा ही चलाना होगा कि लोगों को शंका हो जाय कि कोई राज्य-सत्ता है या नहीं! "हिन्दुस्तान में सावर्न राज्य-सत्ता नहीं है" ऐसा भी लोग कहें तभी वह हमारा अहिंसक राज्य शासन होगा।

सैन्य-बल का उच्छेद कैसे हो?

इसलिए हम ग्राम राज्य का उद्योग करते हैं और चाहते हैं कि ग्राम में

यह मैं क्यों कह रहा हूँ ? इसलिए कि मैं कर्तृत्व-विभाजन करना चाहता हूँ। आज सारे मजदूर दूसरों के अधीन काम करते हैं। काम तो वे करते हैं; लेकिन उनके हाथों में कर्तृत्व नहीं है। गाड़ी ही चलती है लेकिन उसे हम कर्ता नहीं कहते, क्योंकि वह चेतनविहीन है। आज जो मजदूर खेतों में काम कर रहे हैं वे चेतन विहीन जैसा ही काम करते हैं। वे हाथ-पाँवों से काम करते हैं, लेकिन हम चाहते हैं कि उनके दिमाग और दिल से भी वह काम हो। लोग कहते हैं कि 'हिन्दुस्तान के मजदूरों में उतनी अक्ल नहीं है, इसलिए उनका दूसरों के हाथ में रहना ही बेहतर है। पर यह अहिंसा का तरीका नहीं। उनमें जो अक्ल है, अगर हम उसका परित्याग कर दें तो दूसरी कोई अक्ल, दूसरा कोई खजाना हमारे पास नहीं है।

मान लें कि किसी मजदूर की अक्ल से किसी पूँजीवाले भाई की अक्ल ज्यादा है। लेकिन कुल मिलाकर देश में मजदूरों की जो अक्ल है उसकी बराबरी दूसरी कोई भी अक्ल नहीं कर सकती और उस अक्ल का अगर हमें उपयोग न मिले, तो हमारा देश बहुत कुछ खो देगा। इसलिए जरूरी है कि मजदूरों की अक्ल का कैसी भी यह बात है पूरा उपयोग हो। इसीके साथ उनकी अक्ल बढ़े ऐसी भी योजना होनी चाहिए और उसमें यह भी एक योजना होगी कि उन्हें जमीन दी जाय। अलावा इसके कि उन्हें और तालीम देनी चाहिए उनके हाथ में जमीन देना उस तालीम का एक अंग होगा और उनकी अक्ल बढ़ाने का भी एक साधन बनेगा।

कार्य-रचना : (१) सर्वोदय-समाज

अब हम कार्य-रचना की ओर मुड़ते हैं। एक 'सर्व-सेवा-संघ' और दूसरा 'सर्वोदय-समाज' इस तरह हमने रचना की है। नाम 'सर्वोदय-समाज' का चलेगा और काम 'सर्व-सेवा-संघ' करेगा। सर्व-सेवा-संघ शिथिल नहीं निश्चयात्मक मजबूत संस्था होगी और सर्वोदय-समाज शिथिल या अनिश्चित रचना न होकर एक अ-रचना रहेगी—विचार की सत्ता माननेवाला वह समाज होगा। इसलिए हम इस दिशा में सोचना चाहिए कि सर्वोदय समाज और भी कैसे विचारपरायण बने। वह अधिक अनुशासनबद्ध किस तरह होगा यह सोचने की

हमें पसन्द नहीं, क्योंकि केवल अनुशासन माननेवाला समाज हम बनाना नहीं चाहते। वह अधिक विचारवान् कैसे बने और विचार की सत्ता उस पर कैसे चले, इसी दिशा में हमें काम करना चाहिए। सर्वोदय-समाज के जितने सेवक यहाँ इकट्ठा हुए हैं जिन्होंने अपने नाम लिखाये और जिन्होंने नहीं लिखाये और जो यहाँ नहीं आये हैं उन सबके लिए विचार की एक संगति निर्माण करने का काम हमें करना चाहिए। इसके लिए एक बात तो मैंने यह बतायी कि निरन्तर प्रचार होना चाहिए और उसके लिए घूमना चाहिए। दूसरी बात यह कि साहित्य का प्रचार और उसका चिन्तन-मनन अध्ययन होना चाहिए। ऐसे वर्ग जगह-जगह चलने चाहिए, जो हमारे विचार की दूसरे विचारों के साथ तुलना कर अध्ययन करें।

कार्य-रचना : (२) सर्व-सेवा-संघ

इसके लिए 'सर्व-सेवा-संघ' यह एकरस संस्था बनानी चाहिए। मुझे कबूल करना होगा कि इस दिशा में इच्छा रखते हुए भी हम अधिक नहीं कर सके। किन्तु मेरी राय में अगर उसे हम नहीं करते, तो जनता हमसे जो अपेक्षाएँ रखती है उन्हें हम पूरा नहीं कर सकेंगे। पुराने ढाँचे के अनुसार ही विभिन्न संस्थाएँ अलग-अलग काम करती रहें तो उनमें से शक्ति निर्माण न होगी।

मैं कुछ मिसालें दूँगा। मिसाल देते समय किसीका नाम ले लूँ, तो कोई यह न मान ले कि मैं उसका दोष दिखा रहा हूँ। दोष मैं अपना ही दिखा रहा हूँ और वह दूसरों के सामने नहीं अपने ही सामने दिखा रहा हूँ। इसी दृष्टि से मैं कुछ दोषों का उच्चारण करूँगा। वर्धा की हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा को ही ले लीजिये। वहाँ क्या चलता होगा? विद्यार्थी आते होंगे। पहले से अब कम ही आते होंगे। क्योंकि वहाँ हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाएँ और नागरी और उर्दू दोनों लिपियाँ सीखनी पड़ती हैं। इसके लिए आज उतना अनुकूल वातावरण नहीं है फिर भी जो आते होंगे उनमें से बहुत-से तो दो लिपियाँ और दो भाषाएँ सीखना अपना धरम समझते होंगे। लेकिन मैं चाहूँगा कि अगर हमें अपना समाज एकरस बनाना हो तो हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा में सीखने के लिए आने वाले विद्यार्थी चार घंटे खेती का काम करें, उसके बाद एकमात्र ढंग एक

कातने का काम करें, उसके बाद एक-आध घंटा रसोई वगैरह काम करें और फिर तीन-चार घंटा उर्दू या हिन्दी, जो कुछ सीखना हो, सीखें। आज जो यहाँ चलता है उससे शक्ति-निर्माण होना मैं सम्भव नहीं मानता। कुछ लड़कों को लेकर उन्हें सिर्फ उर्दू और नागरी सिखाने बैठने से देश की ताकत न बनेगी। यहाँ मैं इतना सब बोल रहा हूँ और आप सुन रहे हैं। लेकिन आपके कान अगर काट करके यहाँ सुनने के लिए रखे जायँ और मेरी जबान भी तोड़कर बोलने के लिए यहाँ रखी जाय तो न मैं बोल सकता हूँ और न आप सुन सकते हैं। मैं समग्र हूँ और आप भी समग्र हैं इसीलिए मैं बोल पा रहा हूँ और आप सुन पा रहे हैं। हाँ यह ठीक है कि इस समय सिर्फ मेरी जबान काम कर रही है और आपके सिर्फ कान। इसी तरह हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा में मुख्य चार घंटा का जो काम होगा वह उर्दू और नागरी लिपि सीखना होगा। पर शेष जीवन की सारी बातें वहाँ शामिल कर समग्रता लायी जाय, तभी उस उर्दू में ताकत आयेगी तभी उस नागरी में ताकत आयेगी। ऐसी कई मिसालें मैं दे सकता हूँ।

एकांगी काम से शक्ति नहीं बनती

हमारे लोग जो अलग अलग काम करते हैं उनसे ताकत क्यों नहीं पैदा होती और जिस क्रान्ति की हम आशा रखते हैं वह जनता के बीच क्यों निर्माण नहीं होती—मैं इसका यही एक मुख्य कारण मानता हूँ कि हमारे संघ अलग-अलग और एकांगी काम करते हैं। निस्सन्देह काम तो वे अच्छा करते हैं लेकिन उन्हें यह मोह है कि "हम अलग-अलग हैं इसलिए कोई खास विचार कर पाते हैं। अगर हम एक हो जायँ तो हमारा विचार कम हो जायगा हम उतने एकाग्र न हो पायेंगे विविध शक्तियाँ आ जायँगी तो खास काम पर जोर कुछ कम पड़ेगा। मैं कबूल करता हूँ कि हर योजना में कुछ खामियाँ होती हैं तो कुछ खूबियाँ भी। लेकिन कुछ मिलाकर देखने पर ध्यान में आ जायगा कि सर्व सेवा-संघ को एकरस बनाये बगैर हम शक्ति का दर्शन नहीं होगा।

कार्य-रचना के विषय में मैंने अपना मत कह दिया। अब आखिर में जो दो तीन काम हम उठा रहे हैं उनका थोड़ा जिक्र कर भाषण समाप्त करूँगा।

हमारे अंगीकृत कार्य : (१) भू-दान-यज्ञ

एक तो भूमि-दान-यज्ञ का काम हमने शुरू किया है। उस सम्बन्ध में जो मेरे मन में और मेरी जबान पर है वह यह कि कम-से-कम पाँच करोड़ एकड़ जमीन इस हाथ से उस हाथ में जानी चाहिए। यह काम हमें १९५७ के पहले पूरा कर देना है। अगर इस काम में हम सब—माने आप और हम, जो सर्वोदय-समाज के माने जानेवाले ही नहीं बल्कि कांग्रेसवाले, प्रजा-समाजवादी आदि को भी इस विचार को कबूल करते हैं वे सब—लग जायेंगे, तो जमीन के मसले को हल कर सकेंगे फिर चाहे सोलह आना सफलता पाकर बिना कानून से हल हो जाय चाहे बारह आना या आठ आना सफलता पाकर कानून की पूर्ति से पूरा हो जाय। मैं कोई भविष्यवादी नहीं इसलिए ठीक-ठीक यह कैसे हल होगा यह मैं कह नहीं सकता। जिस किसी तरह यह हल हो प्रधानतया जन-शक्ति से होना चाहिए। अगर पूर्णतया जन-शक्ति से हल हुआ तो मैं आनन्द से नाचने लगूँगा। लेकिन प्रधानतया जन-शक्ति से हुआ तो भी संतोष मानूँगा। अगर १९५७ के पहले हम इतना कर सके तो आगे का निर्वाचन सज्जन-सज्जनों के पक्षों के बीच न होगा। आज तो हालत यह है कि इस पक्ष में भी सज्जन हैं और उस पक्ष में भी सज्जन। आज भीष्मार्जुन-युद्ध हो रहा है। हम राम-रावण-युद्ध चाहते हैं भीष्मार्जुन-युद्ध नहीं। जब दोनों पक्षों में सज्जन हैं, तो वे एक क्यों नहीं हो सकते? अगर कोई एकाग्र होकर काम करने जैसा कार्यक्रम मिला तो उनके बीच के अवान्तर मतभेद तत्काल मिट जायेंगे।

भूदान-यज्ञ बुनियादी कार्यक्रम है। आज समाजवादी मुझसे कहते हैं कि "आपने यह कार्यक्रम तो हमारा ही उठा लिया।" मैं कहता हूँ "मुझे कबूल है और इसीलिए मेहरबानी करके मुझे मदद दीजिये।" कांग्रेसवाले कहते हैं: "यह तो कार्यक्रम बहुत अच्छा है, हमें करना ही था।" तो उनसे भी हम मदद चाहते हैं। जनसंघवाले कहते हैं कि 'आपका कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुकूल है, इसलिए अच्छा है।" इस तरह भिन्न-भिन्न पक्षवाले भी इस कार्यक्रम को पसन्द करते हैं। इसलिए अगर हम सब इस काम में लग जायँ तो हो सकता है कि आगामी आम चुनाव में बहुत-सा मतभेद न रहे और अच्छे-से-अच्छे लोग चुन लिये जायँ। इस तरह हुआ तो आगे बननेवाली सरकार बहुत शक्तिशाली

होगी। यह एक उम्मीद इस कार्यक्रम से मैंने की है। तो, यह भूमि-दान का काम १९५७ तक हमें पूरा करना है। पाँच करोड़ के बिना हमें सन्तोष नहीं। लेकिन अगले साल तक पचीस लाख एकड़ पूरा हो जाना ही चाहिए।

(२) संपत्ति-दान-यज्ञ

इसके साथ मैंने एक दूसरा कार्यक्रम शुरू कर दिया है और उसे 'संपत्ति-दान-यज्ञ' नाम दिया है। उसके बगैर भूमि-दान-यज्ञ सफल न होगा। आर्थिक स्वातंत्र्य और आर्थिक साम्य का हमारा कार्यक्रम भी इसके बिना पूरा नहीं होगा। आरम्भ से ही यह बात मेरे ध्यान में थी लेकिन 'एक साधे सब सधे'—दो बातें एक साथ नहीं हो सकती थीं। सिवा भूमि का सवाल जितना बुनियादी था, संपत्ति का सवाल उतना बुनियादी भी नहीं था। अलावा इसके तेलंगाना का परमेश्वरीय संकेत पहचानकर पहले जमीन का काम करना ही मुझे अच्छा लगा। इसलिए आरम्भ में उसे ही उठाया। लेकिन बाद में बिहार में भूमि का मसला पूरी तरह हल करने की बात चली तब ध्यान में आया कि भूमि दान के साथ-साथ संपत्ति-दान-यज्ञ चलने पर ही वह हल होगा। मैं यहाँ संपत्ति-दान-यज्ञ का बहुत विस्तार करना नहीं चाहता। उस पर बहुत लिख चुका और बोल भी चुका हूँ उस पर चर्चा भी हो चुकी है। सिर्फ इतना ही कहता हूँ कि इसमें संपत्ति हम अपने हाथ में न लेंगे। उसमें भी हम कर्तृत्व-विभाजन ही चाहते हैं। याने जो संपत्ति देगा वह हमारे निर्देश के अनुसार उसका विनियोग भी करे, यही हमारी योजना है। फिर भी जैसे भूमि-दान-यज्ञ का प्रचार हम व्याख्यान के जरिये गाँव गाँव जाकर करते हैं वैसे सामुदायिक तौर पर संपत्ति-दान-यज्ञ का व्यापक प्रचार करने का हमारा इरादा नहीं है। व्यक्तिगत तौर पर प्रेम से जिनसे बात हो सकती है उनके हृदय में, उनके कुटुम्ब में और उनके विचारों में प्रवेश करके ही हम यह काम करना है। अभी तक जिन-जिन लोगों ने संपत्ति-दान दिया व प्रतिवर्ष यानी जिन्दगीभर देनेवाले हैं। उन्हें मैंने काफी खींचा है और खींच करके ही उनके दान स्वीकार किये हैं। यानी 'उत्तेजन' देने के बजाय कुछ मात्रा 'नियमन' ही मैंने किया है। अभी करीब चालीस पैंतालीस लोगों के नाम मेरे पास हैं। इसकी अधिक चर्चा यहाँ नहीं करता। फिर भी इतना जरूर

चाहता हूँ कि आपमें से जिनके पास कुछ गठरी हो वे उसे खोल हमें भाग दें और अपने मित्रों में प्रेम से इसका प्रचार करें। ये दोनों काम परस्पर पूरक हैं। अभी जो पचीस लाख एकड़ का हमने संकल्प किया है उसी पर जोर देना है। संपत्ति-दान का काम अभी सार्वजनिक तौर पर नहीं चलाना है। व्यक्तिगत तौर पर जितना हो सके, उतना ही करना है।

(२) सूतांजलि

इन दो कामों के अलावा तीसरा काम सूतांजलि का है। यह एक बड़ी शक्तिशाली वस्तु है। इसकी शक्ति को हम पहचान नहीं सके हैं। बापू की स्मृति में और शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा की मान्यता के तौर पर देश की लक्ष्मी बढ़ाने की जिम्मेवारी महसूस करते हुए हम सूतांजलि समर्पित करें। इसे मैंने सर्वोदय का 'वोट' माना है। यह एक बड़ी बात है। इसमें सिर्फ रुकावट यही है कि घर-घर, गाँव-गाँव जाना पड़ेगा। लेकिन इसे मैं रुकावट नहीं मानता, बल्कि यह हमारे काम के लिए एक प्रोत्साहक बात है। याने इस निमित्त तो हमें घर-घर जाने का मौका मिलेगा। इसलिए इस काम को बढ़ावा देना चाहिए। अगर हो सके, तो जैसे हम पचीस लाख एकड़ जमीन की बात करते हैं, वैसे ही लाखों अंजलियाँ भी प्राप्त करें तो श्रम-प्रतिष्ठा बढ़ाने में उसका बहुत उप-योग होगा।

श्रम-दान

इसके अलावा और एक बात हम इसमें से चाहते हैं। आज तक हमने जितनी संस्थाएँ चलायीं वे पैसे का आधार लेकर चलायीं। अर्थात् पैसेवाले लोग—जो कि हमारे मित्र थे, प्रेमी थे, सहानुभूति रखते थे, जिनके हृदय शुद्ध थे—हमें मदद देते और हम उसे लेते थे। इसमें हम कुछ गलती करते थे, ऐसी बात नहीं। पर अब जमाना बदल गया है अब श्रम का जमाना आया है अतः हमें उसकी प्रतिष्ठा बढ़ानी ही चाहिए। अगर हम हरएक प्रान्त में एक-आध संस्था ऐसी बना सकें तो अवश्य बनायें जो आरंभ में श्रम के आधार पर ही चले और यदि लेना हो तो श्रम का ही दान ले। यदि सूतांजलि का व्यापक प्रचार हुआ तो हम ऐसी संस्थाएँ चला सकते हैं। उनमें से तेजस्वी कार्यकर्ता निर्माण होंगे, जो प्रचार में लग सकेंगे और काम भी कर सकेंगे यही हमारी योजना है।

भाइयो, विचार के जितने अंग थे, मैंने थोड़े में आप लोगों के सामने रख दिये। सर्वोदय-समाज की सभा में हम आते हैं, तो जीवन की कई बातों पर विचार, चर्चा करनी पड़ती है। वह हम करें, लेकिन यह जो मुख्य-मुख्य बातें मैंने बतायी, उन पर आप लोग चिन्तन-मनन करें और संभव हो, तो अगला पूरा वर्ष इस काम के लिए दें, यही मेरी प्रार्थना है।

हम सभी मानव

अन्त में दो शब्द कह देना चाहता हूँ। हमारा यह काम किसी संप्रदाय का काम नहीं है। 'सर्वोदयवाले' यह शब्द भी सुनाई न पड़े, क्योंकि यह शब्द ही गलत है। ध्यान रहे कि हम केवल मानव हैं, मानव से भिन्न कुछ नहीं। नहीं तो देखते-देखते यह सर्वोदय-समाज, भले अनुशासनबद्ध न होने पर भी, आगे 'पाक्षिक' और 'साम्प्रदायिक' बन जायगा और हम दूसरों से अलग हो जायेंगे। इसलिए मुँह से कभी ऐसी भाषा न निकले कि फलाना समाजवादी है, फलाना कांग्रेसवाला है, तो फलाना सर्वोदयवादी।

तीसरी शक्ति

अन्य दूसरे नाम भले ही चलें, क्योंकि वे लोग उस उस नाम पर काम करना चाहते और उसकी उपयोगिता मानते हैं। लेकिन हमारा कोई भी पक्ष नहीं है। जिसे 'तीसरी शक्ति' कहते हैं, वह हम हैं। आज की दुनिया की परिभाषा में 'तीसरी शक्ति' का अर्थ है, जो शक्ति न तो अमेरिकी गुट में शामिल हो और न रूसी गुट में। लेकिन मेरी 'तीसरी शक्ति' की परिभाषा यह होगी—जो शक्ति हिंसा शक्ति की विरोधी है, अर्थात् जो हिंसा की शक्ति नहीं है और जो दण्ड शक्ति से भी भिन्न, अर्थात् जो दण्ड-शक्ति नहीं है, ऐसी शक्ति। एक हिंसा शक्ति, दूसरी दण्ड शक्ति और तीसरी हमारी शक्ति। हम उसी शक्ति को व्यापक बनाना चाहते हैं। इसलिए हमें अपना कोई अलग सम्प्रदाय बनाना नहीं है। हमें आम लोगों में घुल-मिल जाना और केवल मानवमात्र बनकर ही काम करना होगा।

चण्डिल (मानभूम, बिहार)
१ ५१

गांधीजी और साम्यवाद   १७

[श्री किशोरलालभाई की 'गांधीजी अने साम्यवाद' नामक पुस्तक के लिए पूज्य विनोबाजी ने मूल मराठी में जो प्रस्तावना लिखी, यह उसीका हिन्दी रूपान्तर है । —संपादक]

वर्तमान और वह भी दुःखभरा !

आखिर सृष्टि तो अनादि ही कही गयी है। किन्तु जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं उसे भी कुछ नहीं तो दो सौ करोड़ वर्ष जरूर हो ही गये हैं, ऐसा पौराणिकों और आधुनिकों का मत है। कहते हैं पृथ्वी पहले निर्जीव या बिना जीव-सृष्टि की थी। वह सूर्य की तरह एक जलता हुआ गोला ही थी। आगे चलकर ठंडी होते-होते जब वह जीवों के निवास-योग्य बनी तब उसमें जीव-सृष्टि हुई। सूक्ष्म जीवों से आगे बढ़ते-बढ़ते उसमें मानव का आविर्भाव हुआ। उसे भी दस-पाँच लाख वर्ष तो हो ही गये होंगे, ऐसा वैज्ञानिक मानते हैं। मानव के इतने बड़े जीवन-प्रवाह में सौ-दो सौ वर्षों का हिसाब ही क्या ? फिर भी पिछले सौ-दो सौ वर्ष हमारे लिए इतने महत्त्वपूर्ण बन बैठे हैं कि हमें लगता है मानव का आधे से अधिक इतिहास इन्हीं सौ-दो सौ वर्षों में समाया है।

वर्तमान काल का महत्त्व तो हमेशा ही रहता है। वह भूतकाल का फल और भविष्य का बीज होता है। दोनों ओर से उसका महत्त्व अद्वितीय ही है। भूत और भविष्य के सन्धिस्थान पर होने के कारण स्वभावतः वह क्रांति का काल ठहरता है, फिर वह क्रांति जन्मदात्री हो या मरणदात्री, वृद्धिकारिणी हो या क्षयकारिणी। वर्तमान क्षण हमेशा क्रांति का क्षण होता है। इतना ही नहीं, वह 'न भूतो न भविष्यति' होता है। हम देखते हैं कि साठ पैंसठ साल से क्रमशः प्रायः हर साल होती आयी है, फिर भी क्या 'इस बार' की कांग्रेस अनेक कारणों से अपूर्व और महत्त्वपूर्ण नहीं रही? दूर क्यों जायें, घरेलू उदाहरण ही लीजिये। जब किसी मा को बच्चे का दर्शन होता है तब क्या वह यही नहीं समझती कि दूसरी किसी

मा को इस तरह का ध्यान हुआ ही न होगा ? इधर मैं बहुत-सी माताओं को यह कहते सुनता हूँ कि 'हमारे बच्चे के लिए ऐसा कोई नाम सुझाइये, जैसा आज तक किसी बच्चे का न रखा गया हो।

सारांश, वर्तमान काल निस्संदेह क्रांति का ही नहीं, बल्कि अपूर्व क्रांति का काल होता है। उस दिन एक सज्जन बोले : "हमें आपका यह पुराना 'शांति शांति शांति' का घोष (नारा) नहीं चाहिए। अब हम 'क्रांति क्रांति क्रांति' का तीन बार उच्चार करनेवाले हैं। मैंने कहा : "एक ही बार क्रांति कहेंगे, तो ठीक रहेगा। तीन बार पाठ करने से आप मूल स्थान से भी पीछे हट जायेंगे। शांति का ऐसा कोई डर नहीं। वह तो सदा के लिए पुरानी है। क्रांति पुरानी हो जाने से बासी पड़ जाती है। इसलिए तीन बार कहने में कोई सार नहीं। एक ही बार क्रांति कहना चाहिए और फिर उसका नाम भी न लेना चाहिए।"

वर्तमान काल का महत्त्व प्राचीन काल को कैसे मिल सकता है ? यह दूसरी बात है कि वह प्राचीन काल जब वर्तमान रहा होगा, तब उसका भी अपूर्व महत्त्व रहा हो। फिर यदि वह वर्तमान काल या वर्तमान क्षण दुःख का हो, तब तो उसकी [illegible] कीमत ही नहीं रहती। दुःख का काल सदैव लंबा होता है। दुःख का एक प्रसंग सुख के अनेक प्रसंगों को हजम करके डोंगी बघारता है। सुख के अनेक प्रसंग विस्मृति के उदर में चुपचाप गो जाते हैं। दुःख के किसी प्रसंग [illegible] का स्मरण तभी होता है, जब उससे ज्यादा बड़े दुःख का प्रसंग आये। दुःख [illegible] सुख में नहीं, उससे बड़े दुःख के कारण उसकी याद [illegible]। दुःख को मिटाने का काम तीव्र दुःख ही कर [illegible] का समय हमारा वर्तमान काल है और उसमें [illegible] है [illegible] हमारी दृष्टि में वह मानव के सारे इतिहास का [illegible]

[illegible] विचारपीठ

[illegible] परी [illegible] जिसमें इस 'दुःख [illegible] मोह दोष भी देखें [illegible] दिया है। सुख

था। लेकिन एक एक महीना हमारे लिए भारी होने लगा। आखिर कुछ लोग धर्मानुष्ठान में लग गये। कुछ ने पाक-शास्त्र के प्रयोग शुरू किये। कितनों ने दोनों उपायों का समन्वय साध लिया। इसी तरह के और भी उपाय लोगों ने खोज निकाले। किन्तु इतना सब करने पर भी सब लोगों को काम नहीं मिला। कुछ निठल्ले ही रहे। तब उन्होंने गुरुदेव के उत्साह से इस विषय का चिन्तन शुरू किया कि भारत और संसार के दुःख कैसे दूर किये जा सकते हैं।

जिनकी श्रद्धा ने निश्चय किया कि "गांधीजी के बताये हुए मार्ग से ही यह प्रश्न हल होगा" वे अपने भीतर के दोषों की जाँच करने लगे। उन्होंने कहा : "मार्ग सही तो है, पर हमारे कदम ही ठीक नहीं पड़ते। यहीं देखिये न! हम जेल में आये तो सत्याग्रही बनकर, लेकिन चोरी से बाहर खबरें भेजते हैं। इतना ही नहीं, जरूरत की चीजें भी चोरी से प्राप्त करते हैं। यह हमारा दोष है, और आमद शक्ति हमारी इतनी बड़ी है कि दो-चार महीने भी हम भारी मालूम होते हैं। ऐसे हम नाम के 'सत्याग्रही' हैं। ऐसे टूटे-फूटे साधनों से सिद्धि कैसे मिलेगी? इसलिए हम आज जो एकान्त में रहने का अवसर मिला है, उसका लाभ उठाकर आवश्यक गुणों का विकास करना चाहिए।" ऐसा कहकर वे लोग सत्यमाग्रही होकर जेल का 'टास्क' (काम) पूरा करने के बाद जेल में ही कातने, धुनने, बुनने और सफाई-काम भी करने लगे।

दूसरे कितनों को यह अन्तर्वृत्ति नहीं जँची। "सत्य और अहिंसा के नीति-युक्त आचरण की बात आप राजनैतिक लड़ाई में करते हैं। संसार के इतिहास में [illegible] राजनैतिक लड़ाइयाँ [illegible] आप ही बताइये कि इनमें से एक-आध भी ऐसा [illegible] जिसमें आज हम जितना संयम पालते हैं, उससे अधिक संयम का [illegible] किया गया [illegible] अहिंसक लड़ाई की सफलता के लिए अगर मनुष्य का [illegible] की जरूरत हो [illegible] तो अहिंसक लड़ाई मृगजल [illegible] आप सारी जनता को त्याग के पाठ [illegible] कब होगा और जनता के दुःख [illegible] हो जायगी?" दूसरा मार्ग दिखाई [illegible] पकड़ना। मार्ग अच्छा तो है

मित्र मुझसे बोले : "मालूम होता है आपने अब तक कम्युनिस्ट-साहित्य नहीं पढ़ा। वह पढ़ने जैसा है।" मैंने कहा "अब मैं कातता रहता हूँ, उस वक्त आप ही मुझे पढ़कर सुनाइये।" तब उन्होंने टीका की दृष्टि से चुना हुआ साहित्य मुझे पढ़ सुनाया। उससे पहले मार्क्स की 'कैपिटल' जो नवीन विचार की मूल संहिता है, मैंने बाहर फुरसत में पढ़ ली थी। इसलिए उन्होंने पढ़कर जो सुनाया, उसे समझने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। रोज घंटा डेढ़ घंटा श्रवण होता था। कुछ महीने यह क्रम जारी रहा। उनका पढ़कर सुनाया साहित्य चुना हुआ था फिर भी उसकी पुनरुक्तियों की मेरे मन पर जबरदस्त छाप पड़ी। तब अगर हमारे तरुणों के मन इस पुनरुक्ति दोष से ऊबआये नहीं उलटे मन्त्र-मुग्ध हो गये, तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं।

दो निष्ठाएँ : गुण-विकास और समाज-रचना

गुण-विकास और समाज-रचना ये दो ऐकान्तिक निष्ठाएँ आदिकाल से लेकर अब तक चलती आयी हैं। गुण-विकासवादी कहते हैं : "गुणों की बदौलत ही यह जगत् चल रहा है। मनुष्य का जीवन भी इसी तरह गुणप्रेरित है। ज्यों-ज्यों गुणों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों समाज की रचना सहज ही बदलती जाती है। इसलिए सज्जनों को अपना सारा ध्यान गुण-विकास पर केन्द्रित करना चाहिए। समाज रचना के फेर में पड़ना व्यर्थ ही अहंकार को सिर उठा लेना है। 'जगद्व्यापारवर्जम्' यह भक्तों की मर्यादा है। माने जगत् के सर्जन पालन और संहार की शक्ति को छोड़कर भगवान् की दूसरी शक्तियाँ भक्त को प्राप्त हो सकती हैं। अहिंसा सत्य संयम सन्तोष, सहयोग आदि यम-नियमों के प्रति निष्ठा दृढ़ करना, ये गुण हमारे नित्य के व्यवहार में उत्तरोत्तर प्रकट हों ऐसी कोशिश करना ही हमारा काम है। इतना करने पर शेष सब अपने आप हो जायगा। बच्चे को दूध पिलाओ यह माता से कहना नहीं पड़ता। भूख के समय रोना चाहिए यह छोटे बालक को सिखाना नहीं पड़ता। वात्सल्य होगा तो दूध अपने आप पिलाया जायगा। दुःख होगा तो सहज ही रोया जायगा।

इस प्रकार की यह एक निष्ठा है जो सभी सन्तों के हृदय में सहज स्फूर्त होती है। गीता में दैवी सम्पत्ति के गुण और ज्ञान के लक्षणों की जो तालिका

भागी है, उसके एक-एक गुण और लक्षण पर ज्ञानदेव ने जो इतना सुन्दर विवेचन किया है उसके मूल में यही निष्ठा है।

इसके ठीक विपरीत कम्युनिस्टों का तत्त्वज्ञान है। वे कहते हैं 'जिसे आप गुण-विकास कहते हैं, वह यद्यपि चित्त में होता है, पर चित्त द्वारा किया हुआ नहीं होता परिस्थिति द्वारा किया होता है। चित्त स्वयं ही परिस्थिति के अनुसार बना रहता है। 'भौतिकं चित्तम्'—चित्त पंचभूतात्मक है। छोटे बालक को दाढ़ी-मूँछवाले बाबा का डर लगता है इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि उसकी माँ के दाढ़ी-मूँछ नहीं होती। माँ को अगर दाढ़ी-मूँछ होती, तो बगैर दाढ़ी-मूँछवालों को देखकर ही बालक घबराता। आप कहते हैं कि दुःख होने पर रोना सहज ही आता है। लेकिन गुदगुदाने से दुःख भी सहज ही होता है। क्या चित्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है? वस्तुतः वह सृष्टि का एक प्रतिबिम्बमात्र है, छायारूप ही है। छाया के नियमन से वस्तु का नियमन होगा या वस्तु के नियमन से छाया का? रात को गहरी नींद आने से चित्त प्रसन्न होता है। सत्त्वगुण प्रकट होता है। फिर थोड़ी देर के बाद भूख लगने पर रजोगुण और चञ्चलता है और भोजन करते ही तमोगुण बढ़ जाता है। फिर आप गुणों की महिमा क्यों गाते हैं? योग्य परिस्थिति निर्माण कर देने पर योग्य गुणों का उदय होगा ही। इसलिए परिस्थिति को पलटिये। जल्द-से-जल्द पलटिये और चाहे जिस तरह से पलटिये। मनोविज्ञानियों के गाने सुनते न बैठिये। मनुष्य का मन जैसा है, वैसा ही रहेगा। वह किसी तरह पशु का मन नहीं बन सकता और न काल्पनिक देवता के समान ही बन सकता है। वह अपनी मर्यादा में ही रहता है। परिस्थिति सुधरने पर वह थोड़ा-बहुत सुधरता है और बिगड़ने पर थोड़ा-बहुत बिगड़ता है। उसकी चिन्ता न कीजिये। समाज रचना बदलने के लिए हिंसा करनी पड़े तो भी 'सद्गुण मर गया' कहकर चिल्लाते मत रहिये। बुरी रचना नष्ट हुई, इतना ही समझिये। उसके लिए जो हिंसा करनी पड़ी, वह साधारण हिंसा नहीं थी। वह ऊँचे स्तर की हिंसा थी। वह भी एक सद्गुण ही थी। वह समझिये तो आपका भलीभाँति गुण-विकास होगा।

ये दो छोर हुए। इन दोनों के बीच बाकी सबका पैठना है। प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति की जगह देखकर बैठता है।

कोई कहते हैं : "समाज-रचना बदलने का भी महत्त्व है।" इस बात से इनकार नहीं। लेकिन वह विविध गुणों के विकास के साथ ही होना चाहिए। समाज में कुछ 'स्थिर मूल्य' होते हैं। उन्हें गँवाकर एक खास तरह की समाज-रचना चाहे जिस तरह सिद्ध करने की जल्दी में ब्याज के लोभ में मूल रकम भी गँवाने जैसी बात होगी। समाज-रचना कोई शाश्वत वस्तु नहीं। देश-काल के अनुसार वह बदलेगी और बदलनी ही चाहिए। सदा के लिए एक समाज-रचना बना डालें और बाद में सुख की नींद लें, यह हो नहीं सकता। समाज-रचना को देवता बनाकर मैदान में कोई सार नहीं। आखिर समाज-रचना करेगा भी कौन? मनुष्य ही न? तो जैसा मनुष्य होगा, वैसी ही वह बनेगी। इसलिए सौजन्य की मर्यादा छोड़कर, बल्कि उत्तम सौजन्य रखकर सौजन्य को बढ़ाकर सौजन्य के बल से ही समाज-रचना में परिवर्तन करना चाहिए। इस तरह का परिवर्तन धीरे-धीरे हो तो भी चिन्ता करने का कारण नहीं। धीरे-धीरे पकाकर लाया हुआ हलुआ भी अच्छा होता है। वह धीमी गति ही अन्त में शीघ्रतम कारगर सिद्ध होगी। जब हम सौजन्य बढ़ाने की बात कहते हैं, तब हम देवता नहीं बनना चाहते। वह अहंकार हमें नहीं चाहिए। जब हम मनुष्य ही हैं, तो सौजन्य का कितना भी विकास क्यों न करें, हमें देवता बनने का खतरा है ही नहीं। इसलिए हम जितना अधिक-से-अधिक गुणोत्कर्ष कर सकें, उतना [illegible] सम्भव है। [illegible] नहीं कि समाज-रचना अच्छी होने पर सद्गुणों की वृद्धि में [illegible] है, किन्तु [illegible] की [illegible] वृद्धि होने पर ही समाज-रचना अच्छी [illegible] है [illegible] अधिक सम्भव प्रतीत होता है। सद्गुण-निष्ठ बुनियाद है [illegible] बुनियाद के [illegible] इमारत जैसी मजबूत बनाती [illegible]

[illegible] भी [illegible] है कि समाज-रचना
[illegible] समाज की दिशा [illegible] और सद्गुण
[illegible] [illegible] धर्म [illegible]
[illegible] । निर्विवाद समान है।
[illegible] ही और साधना
[illegible] आगम में साधना

कर लेंगे। इसे नित्य-नैमित्तिक-विवेक कहना चाहिए। इसी तरह का विवेक सर्वत्र करना पड़ता है।

'कम्युनिस्टों की तरह हम यह नहीं मानते कि 'क्रान्ति के लिए हिंसा के साधनों से काम लेना ही चाहिए, हिंसा के सिवा क्रान्ति हो ही नहीं सकती। हमारा विश्वास है कि भारत जैसे देश और जनतन्त्रात्मक राज्य में हिंसक साधनों का अवलम्बन किये बिना केवल बैलट-बाक्स के बल पर राज्य-क्रान्ति की जा सकेगी। उसके लिए लोकमत तैयार करने में १०-१५ साल लग जायें तो भी कोई हर्ज नहीं। हम धैर्य के साथ लोकमत तैयार करते रहेंगे। लेकिन मान लीजिये कि सत्ताधारी पक्ष ने चुनाव की पवित्रता कायम नहीं रखी और वे सत्ता का दुरुपयोग करके चुनाव जीत गये तो ऐसे अवसर पर साधन-शुद्धि का आग्रह रखने का अर्थ निरन्तर मार खाते रहना ही होगा। इसलिए निरुपाय होकर केवल विशेष प्रसंग के लिए ही अन्य साधनों का उपयोग करना हमें अनुचित नहीं मालूम होता। हम उसे 'नैमित्तिक धर्म' समझते हैं। चाहें तो आप उसे 'आपद्धर्म' कह लीजिये, लेकिन 'अधर्म' न कहिये, इतना ही हमारा निवेदन है। इतने से ही शाश्वत मूल्य न गिरेंगे। नैमित्तिक कारण के लिए सही रास्ते से थोड़ा अलग चलना पड़े, तो बाद में फिर से सही रास्ता लिया जा सकता है। सत्ता की अवस्था-व्यवस्थी होते ही शाश्वत मूल्यों को और भी अधिक पक्का कर लेंगे।

"हिंसा-नीतिवाद संहिता को मजबूत गाड़ने की नीति मशहूर है। कैसा ही इसे समझिये। अहिंसा के काम के लिए ही हिंसा का यह तात्कालिक आश्रय है। अन्यथा अहिंसा हमसे बहुत दूर चली जायगी। पेड़ तेजी से साथ बढ़े, इसीलिए हम उसकी काट-छाँट करते हैं न! पेड़ की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाना एक बात है और उसकी शाखाओं की काट-छाँट करना दूसरी बात। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद जातिवंशवाद—ये सारे वाद अहिंसा की जड़ पर ही प्रहार किया करते हैं। हिंसा में कम्युनिस्टों की श्रद्धा और उसके तदनुरूप अमल के कारण उनका प्रहार भी अहिंसा की जड़ पर होता है। यद्यपि उनका उद्देश्य ऐसा नहीं होता तथापि उसका परिणाम यही निकलता है। इसलिए हम साम्यवाद का समर्थन नहीं कर सकते। परन्तु विशिष्ट गुण की निष्ठा के नाम पर समूचे समाज की प्रगति रोक रखनी और गरीबों का उत्पीड़न दीर्घकाल तक चलने देने में हमें

गुणनिष्ठा का अतिरेक मालूम पड़ता है। इसके अलावा हमारा यह कथन है कि दूसरे राज्य का हमला रोकने और भीतरी विद्रोह खतम करने के लिए यदि शस्त्र-बल का प्रयोग करना पड़े तो उसकी गणना हिंसा में न कर उसे 'स्वधर्म' समझना चाहिए। इतने अपवाद छोड़कर शेष सारे प्रसंगों में अहिंसक साधनों का आग्रह रखना अत्यन्त जरूरी है ऐसा हम मानते हैं।"

सन्तों और कम्युनिस्टों की भूमिकाएँ नैतिक भूमिकाएँ हैं। और इन दो विभक्त भूमिकाओं को हम नैतिक भूमिकाएँ कह रहे हैं। इनमें से पहली नैतिक भूमिका का प्रतिपादन इस देश में गौतम बुद्ध और गांधी ने प्रभावशाली ढंग से किया है। दूसरे भी कुछ धर्मसंस्थापकों ने उसका आश्रय लिया है। कई ही स्मृति-वचनों ने उसे मान्य किया है। दूसरी नैतिक भूमिका का प्रतिपादन अनेक नैतिक स्मृतिकारों ने किया है। आज भारत में बहुत से कांग्रेसवाले, कांग्रेस के उपपक्षोंवाले और राष्ट्रीयता का अभिमान रखनेवाले लगभग सारे समाजवादी इसी भूमिका पर खड़े मालूम होते हैं। बहुत से गांधीवादी कहलानेवाले भी घूम-फिरकर इसी भूमिका के नजदीक आ जाते हैं।

इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री किशोरलालभाई की इस पुस्तक में गांधीजी की सत्याग्रही नैतिक भूमिका और कम्युनिस्टों की रचना तथा शान्तिनिष्ठा की तुलना की गयी है।

गांधी और मार्क्स

महात्मा गांधी और मार्क्स महामुनि—दोनों के विचारों की तुलना से अधिक आकर्षक विषय आज के जमाने में और कौन-सा हो सकता है? पिछले सौ-सवा सौ वर्षों के मनुष्य-समाज के जीवन को यदि छाना जाय तो बहुत कर ये दो ही नाम हाथ में रह जायँगे। मार्क्स के पेट में लेनिन आ ही जाता है। गांधी के पीछे 'रामराज्य' की छाया प्रतीत होती है। ये दोनों विचार-प्रवाह एक दूसरे का आक्रमण करने के लिए आमने-सामने खड़े हैं। आज ऊपर से तो संसार के आँगन में रूस के नेतृत्व में साम्यवादी और अमेरिका के नेतृत्व में जनतन्त्र के आवरण में छिपे पूँजीवादी खम ठोककर खड़े दिखाई देते हैं। किन्तु गहराई से विचार करें तो इस दूसरे नकली द्वन्द्व में कोई तत्त्व नहीं रह गया है।

इसलिए फौजी शक्ति के बल पर वह कितनी ही शेखी क्यों न बघारे, मैं तो मानता हूँ कि कम्युनिस्ट पक्ष की प्रतिस्पर्धा में वह खड़ा नहीं रह सकता। इसके विपरीत, गांधी विचार यद्यपि आज कहीं संगठित रूप में खड़ा नहीं दिखाई देता फिर भी उसमें विचार का तत्त्व होने के कारण कम्युनिज्म को उसीका सामना करना पड़ेगा। ऐसे इन दो बलवान् दर्शनों की तुलना श्री किशोरलालभाई ने इस छोटी-सी लेखमाला में की है। विषय अत्यन्त रस से इतना भरा है कि श्री किशोरलालभाई की विविध प्रकार की 'निरस-विचार' विवेचन-शैली के बावजूद पाठक पूरी पुस्तक पढ़े बिना नहीं रह सकते। श्री किशोरलालभाई ने 'गांधी-विचार दोहन' पहले से ही कर रखा है इसलिए गांधी-विचार का उनका इस पुस्तक में किया हुआ विश्लेषण अधिकृत माना जायगा। मार्क्सवाद का उनका विश्लेषण उतना अधिकृत न माना जाय तो भी मुझे लगता है कि उस वाद के प्रति अन्याय न हो, इतनी सावधानी इसमें रखी गयी है।

संसार की बात हम छोड़ दें तो भी कम-से-कम भारत में आज गांधी-विचार और साम्यवाद की तुलना एक नित्य चर्चा का विषय बन गया है। हरएक व्यक्ति अपने-अपने ढंग से दोनों का तुलनात्मक मूल्यांकन किया करता है। गांधी विचार के चारों तरफ आध्यात्मिक तेजोपुंज दिखाई देता है, तो साम्यवाद के पीछे शास्त्रीय परिभाषा का जबरदस्त पुरुषार्थ। गांधी-विचार ने भारत के स्वराज्य संपादन का श्रेय प्राप्त कर अव्यवहार्यता के आक्षेप से छुटकारा पा लिया है। साम्यवाद ने चीन के पुराणपुरुष को तारुण्य प्रदान कर अपनी तात्कालिक शक्ति दिखा दी है। इसलिए संभव हो तो दोनों विचारों का समन्वय किया जाय ऐसी आकांक्षा कुछ प्रचारकों के मन में उठती रहती है। फिर 'गांधीवाद यानी हिंसावर्जित साम्यवाद' इस तरह के कुछ स्थूल सूत्र बना लिये जाते हैं। वस्तुतः इन दो विचारों का मेल नहीं हो सकता। इनका विरोध अत्यन्त मूलगामी है। ये दोनों एक-दूसरे की जान लेने पर तुले हैं यह इन निबन्धों में दर्पण की तरह स्पष्ट हो गया है।

एक बार इस तरह की चर्चा हो रही थी कि "गांधीवाद और साम्यवाद में केवल अहिंसा का ही फर्क है।" मैंने कहा : "दो आदमी नाक, कान, आँख की दृष्टि से बिलकुल एक-से थे। इतने मिलते-जुलते कि राजनैतिक एक

के लिए एक की जगह दूसरे को बैठाया जा सकता था। फर्क इतना ही था कि एक की नाक से साँस चल रही थी तो दूसरे की साँस बन्द हो गयी थी। परिणाम यह हुआ कि एक के लिए भोजन की तैयारी हो रही थी जब कि दूसरे के लिए श्मशान-यात्रा की।" अहिंसा का होना या न होना यह 'छोटा-सा' फर्क छोड़ देने पर बची हुई समानता इसी तरह की है। श्री किशोरलालभाई ने तो नाक कान आँख में भी फर्क दिखा दिया है। जिसकी साँस चल रही है, और जिसकी नहीं चलती, ऐसे दो व्यक्तियों की नाक, कान आँख में भी फर्क हुए बिना कैसे रहेगा? भले ही ऊपर-ऊपर से वे कितने ही समान क्यों न दिखाई देते हों।

साम्यवाद शुद्धमशुद्ध एक भौतिक का (राग-द्वेषात्मक) विचार होने के कारण उसके सात्त्विक परीक्षण की मुझे कभी जरूरत नहीं मालूम हुई। यद्यपि साम्यवादियों ने उसके चारों तरफ एक लम्बी-चौड़ी तत्त्वज्ञान की इमारत खड़ी कर दी है तथापि तत्त्वज्ञान के नाते उसमें कोई सार नहीं। क्योंकि वह कारीगरी नहीं बाजीगरी है। वह पीलियावाले की दृष्टि है। उदाहरणार्थ, 'संघर्ष' नाम के एक परम तत्त्व को ये लोग मानते हैं। संघर्ष के सिवा इस दुनिया में और कुछ है ही नहीं। 'नान्यद् अस्ति' यह इन साम्यवादियों की टेक ही है। जिस प्रकार वह परमाणुवादी कणाद मरते समय पीलवः पीलवः पीलवः (परमाणु परमाणु, परमाणु) कहता रहा वैसा ही हाल इन संघर्षवादियों का है। जब बालक को माता के स्तन से दूध मिलता है; यह चमत्कार कैसे होता है? इनकी दृष्टि में तो यह एक महान संघर्ष ही होता है—माता के स्तन का और बच्चे के मुख का [illegible] मिल तो यह इतिहास विनाश में दिया [illegible] लोग उसे गम्भीर [illegible] कर लेंगे। कारण यह कि जिसे हम सहकार समझते हैं उसे भी [illegible] समझा जाता है। यहाँ सचमुच का प्रतिकार कितना

ध्यवमी दस दिशाओं में चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में, जैसा कि गांधीजी ने कहा है "हरएक को अपनी अक्ल बरतनी चाहिए" यही उत्तम उपाय है।

तीन गांधी-सिद्धान्त

गांधी-विचार का मूल और व्यापक कायम रखकर उसे कुछ व्यावहारिक रूप देने का भी किशोरलालभाई ने प्रयत्न किया है : १ वर्णव्यवस्था २ विश्वस्तवृत्ति (ट्रस्टीशिप) और ३ विकेन्द्रीकरण—इन तीन विषयों को मिलाकर उन्होंने एक ढाँचा बनाया है। आइये, उस पर थोड़ी निगाह डालें।

१ वर्ण-व्यवस्था की पुरानी कल्पना में नया अर्थ भरकर अथवा उस कल्पना में निहित मूलभूत विचार को ध्यान में रखकर गांधीजी ने उसे स्वीकार किया है। मैं समझता हूँ कि यह उनका एक अहिंसा का प्रयोग है। किसी समाज में आदरणीय बन शब्दों और कल्पनाओं को अमान्य करने के बदले उन्हें मान्य रखकर उनके अर्थ का विकास करना उन्हें विकसित रूप देना और उनमें नव-जीवन डालना अहिंसा की प्रक्रिया है। भारतीय परम्परा में उतरा हुआ समन्वय का सारा विचार इसी अहिंसा की प्रक्रिया से निकला है। इस प्रक्रिया में पुराने शब्दों में नया अर्थ भरने का भान भी नहीं होता। पुराने शब्दों के मूल अर्थ को सिर्फ समझा देने का आभास होता है। गीता ने यज्ञादि शब्दों के अर्थों में विकास कर इस पद्धति का उदाहरण हमारे सामने रखा है। इस प्रक्रिया में शब्दों [illegible] खींचतान होने का बहुत डर रहता है। ऐसा होने पर यह अहिंसा के प्रयोग [illegible] असत्य का प्रयोग बन जाता है। शब्दों की खींचतान किये बिना मूल [illegible] शब्दार्थ का व्यापकमात्र दोहन किया जाय तो यह अहिंसा की प्रक्रिया [illegible]। गांधीजी भारतीय संस्कृति में जनमे और पल-पुसकर बड़े हुए। वे मुख्यतः [illegible] के लिए बोलते थे। मैं समझता हूँ कि इसीलिए [illegible] समाज की कल्पना को स्वीकार किया। दूसरी भाषा में कहा जाय, [illegible] किसी समाज में पैदा हुए होते और उसी समाज के लिए बोलते [illegible] अहिंसक समाज रचना के अनिवार्य अंग के रूप में 'वर्ण-व्यवस्था' शब्द [illegible] उसकी कल्पना उनके मन में स्वतन्त्र रीति से आती ही, यह नहीं कहा जा [illegible] फिर भी इतना कह सकते हैं कि इस कल्पना का उन्होंने जो सार ग्रहण

किया जाय उस हालत में भी दूसरे किसी शब्द के द्वारा उन्हें ग्रहण करना ही पड़ता। मेरा आशय यह है कि जिन्हें 'धर्म' और 'वर्ण-व्यवस्था' शब्द ही पसन्द नहीं हैं, उन्हें गांधीजी के इन शब्दों का प्रयोग करने पर चौंकने की ज़रूरत नहीं। यहाँ शब्दों का आग्रह नहीं उनके सार से मतलब है।

१ मजदूरी (पारिश्रमिक) की समानता २ होड़ (प्रतियोगिता) का अभाव और ३ आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजना—यही वर्ण-व्यवस्था का सार है। हमारी दृष्टि से अहिंसक समाज-रचना में इतना ही अभिप्रेत है।

२ वर्ण-व्यवस्था की तरह ही ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की बात है। यह शब्द भी बहुतेरों को अच्छा नहीं लगता। 'वर्ण धर्म' शब्द मूल में निःसन्देह एक सद्विचार और सुयोजना का द्योतक है। ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के बारे में तथापि निश्चयपूर्वक ऐसा नहीं कहा जा सकता। अर्थात् यह शब्द जब से पैदा हुआ तभी से इसका दुरुपयोग भी शुरू हुआ है। किन्तु कानून की भाषा में उसका अच्छे अर्थ में प्रयोग हुआ है। गांधीजी कानून के अच्छे अभ्यासी थे, इसलिए उस शब्द को उन्होंने पकड़ लिया। और चूँकि वे सत्योपासक थे, इसलिए उन्होंने उसका मूल शुद्ध अर्थ अपने हृदय में रख लिया। मैं कानून का अभ्यासी नहीं। इसलिए गांधीजी के इस शब्द का प्रयोग करने पर भी उसे पकड़ नहीं गया और न मुझ पर आक्रमण ही कर सका। फिर भी गांधीजी ने जिस अर्थ में उस शब्द का प्रयोग किया उस अर्थ के विषय में मुझे गलतफहमी नहीं हुई। गीता के अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दों ने गांधीजी के मन को मजबूती से पकड़ लिया। तब वे इसका चिन्तन करने लगे कि इस वृत्ति का व्यवहार में आचरण किस तरह किया जाय, तो उन्हें कानून के 'ट्रस्टी' शब्द की मदद मिली। गांधीजी ने 'आत्मकथा' में कहा है कि "गीता के अध्ययन से 'ट्रस्टी' शब्द के अर्थ पर विशेष प्रकाश पड़ा और उस शब्द से अपरिग्रह की समस्या हल हुई।" आशय, गांधीजी की दृष्टि से समाज की आज की ही नहीं किसी भी परिस्थिति में देहधारी मनुष्य के लिए अपनी शक्तियों का ट्रस्टी के नाते उपयोग करना ही अपरिग्रह सिद्ध करने का व्यावहारिक उपाय है। श्री किशोरलालभाई ने इसकी जो बारीक छानबीन की है उसे एक बालक भी समझ सकता है। मैं मानता हूँ

कि उसमें गूढ़ कुछ भी नहीं है और गलतफहमियों की भी कोई गुंजाइश नहीं है।

संपत्ति की विषमता कृत्रिम व्यवस्था के कारण पैदा हुई है, ऐसा मानकर हम छोड़ दें, तो भी मनुष्यों की बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियों की विषमता पूरी तरह दूर नहीं हो सकती। शिक्षण और नियमन से यह विषमता भी कुछ अंश तक कम की जा सकती है, ऐसा हम मान लें। किन्तु आदर्श स्थिति में भी इस विषमता के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए बुद्धि, शरीर और सम्पत्ति इन तीनों में से जिसे जो प्राप्त हो, उसे यही समझना चाहिए कि वह सबके हित के लिए ही उसे मिली है। इसीको अच्छे अर्थ में 'ट्रस्टीशिप' कहेंगे। लेकिन यह शब्द दुष्टों के हाथ में पड़कर इतना पतित हो गया है कि उसका उद्धार अब असम्भव-सा है। इसलिए उसकी जगह मैंने 'विश्वस्त-वृत्ति' जैसे भाववाचक शब्द की योजना की है। कोई किसीके भरोसे न जीये, इस तत्त्व को हम सामान्यतः स्वावलम्बन के तत्त्व के नाते मान्य करेंगे। किन्तु कोई किसीका भरोसा न करे, ऐसी स्थिति पैदा हो जाय तो वह एक नरक की रचना होगी। मां-बाप को सन्तान पर, सन्तान को मां-बाप पर, पड़ोसियों को पड़ोसियों पर—इतना ही नहीं भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को भी एक-दूसरे पर विश्वास करना चाहिए। ऐसा विश्वास करने में हमें यदि भय की आशंका हो तो उसका अर्थ यह होगा कि हम मानवता से नीचे की सतह पर विचार करते हैं। ऐसी 'विश्वस्त-वृत्ति' शिक्षण से परिपुष्ट की जा सकती है। यह सब करने के बदले सारे समाज को एक ही सांचे में डालकर यकायक बना देने में विश्वास रखना अथवा ईश्वर पर विश्वास करने का झंझट ही न रहे बौद्धिक आलस्य होगा।

परस्पर विश्वास पर आरूढ़ समाज-रचना का अर्थ है उसकी विविध व्यक्तियों का सहयोगी संगठन। 'लोकसंग्रह' शब्द से हम यही अर्थ दरसाते हैं। व्यक्तिगत अपरिग्रह का अर्थ है विश्वस्त-वृत्ति से अपनी शक्ति का सबके भले लिए उपयोग करना। यह लोकसंग्रह का एक मूलभूत तत्त्व है। हमारा इतना ही कहना है कि 'सर्वोदय' शब्द पसन्द न हो तो भले ही उसे छोड़ दीजिये पर इस मूलभूत तत्त्व को न छोड़िये।

राष्ट्रीयकरण की बात बिलकुल ही अलग है। यह शब्द नया होने के कारण इसमें भले या बुरे कुछ भाव अथवा संस्कार जमा नहीं हैं। जिस प्रकार

यह शब्द नया है, उसी प्रकार उसका अर्थ यानी उसके पीछे की कल्पना भी नयी है। कोई पूछेगा कि यंत्र-युग के आने से पहले जब सारा विकेन्द्रीकरण ही था तो फिर उसमें नया क्या है? लेकिन यंत्र-युग से पहले विकेन्द्रीकरण नहीं था, बल्कि सब विकेन्द्रित था। गाँवों में सारे उद्योग विकेन्द्रित रूप में चलते रहे तो उतने से ही विकेन्द्रीकरण हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता। विकेन्द्रीकरण में विकेन्द्रित उद्योगों के साथ-साथ समग्र दृष्टि की एक व्यापक योजना गृहीत है। वैसी योजना के अभाव में विकेन्द्रित उद्योगों का अर्थ 'बिखरे हुए उद्योग' होगा। ऐसे बिखरे हुए उद्योग यंत्र-युग के पहले थे। स्वाभाविक रूप में यंत्र-युग की पहली चोट लगते ही वे छिन्न-भिन्न होने लगे। इसके विपरीत विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था छिन्न-भिन्न होनेवाली नहीं बल्कि यंत्र-युग को छिन्न भिन्न करनेवाली है। आज का यंत्र-युग नाम से तो 'यंत्र-युग' है किन्तु वस्तुतः वह असंयत अमर्यादित है। उसके बदले साम्यवादी 'सुमर्यादित यंत्र-युग' चाहते हैं। किन्तु दानवों की तरह यंत्र भी मनुष्य के जोते हुए ही क्यों न हों किन्तु अपने-आपमें वे अमानवीय ही हैं। इसलिए उनका मानवीयकरण एक हद से आगे नहीं हो सकता। उल्टे वे मानव को अपना खिलौना बना देते हैं। यहाँ 'यंत्र' शब्द का अर्थ 'सहायक साधन' ही समझना चाहिए, किसी 'राक्षस' के हाथ में रहनेवाला उपकारक साधन नहीं। इसी प्रकार 'यंत्र' शब्द का अर्थ 'मनुष्य का औज़ार, आल्मारी या बड़े चलानेवाला छोटा यंत्र' ही समझना चाहिए। उसका अर्थ मनुष्य की मदद के लिए दौड़कर आनेवाले उपकरण के रूप में उसके हाथ में शोभा देनेवाला तथा मानव-स्वभाव से 'भाषित औज़ार' नहीं समझना है। एक ही उदाहरण देना हो तो 'व्हील बेरो' (एक चक्केवाली हाथ-गाड़ी) का दे सकते हैं। हम जो कुआँ खोद रहे हैं उसका मलबा ढोने के लिए वह हमारी कितनी मदद करता है, इसका मैं हर रोज अनुभव करता हूँ। उसे देखकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत की कड़ी मैं गुनगुनाया करता हूँ 'धन्य धन्य यह औज़ार।' यह भी यंत्र-युग का दिया हुआ है। इसलिए जब हम यह कहते हैं कि विकेन्द्रीकरण यंत्र-युग को तोड़ देगा तब हमारा मतलब यह होता है कि यंत्र-युग से इस तरह काम उठाकर हम उसे तोड़ देंगे। इस तरह का काम उठाये बिना यंत्र-युग टाला भी नहीं जा सकता। लेकिन इस तरह की शक्ति,

पंच-कुल को हजम कर लेने की ताकत पुराने विकेन्द्रित उद्योगों में नहीं थी। 'विकेन्द्रित' उद्योगों और 'विकेन्द्रीकृत' उद्योगों में यह एक बड़ा मूलभूत प्रकृति-भेद है। इसलिए 'विकेन्द्रीकरण' शब्द और उसके द्वारा सूचित कल्पना दोनों नये ही हैं। अगर इस विश्लेषण पर ध्यान दिया जाय, तो विकेन्द्रीकरण के विरुद्ध किये जानेवाले बहुत-से आक्षेप चट्टान पर चलायी गयी तलवार की धार की तरह मोथरे हुए बिना न रहेंगे।

किन्तु विकेन्द्रीकरण केवल उद्योग तक ही सीमित नहीं रहता। विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया राज्यसत्ता के लिए भी लागू होती है। आर्थिक समाज-रचना की घोषणा करनेवाले विचारकों को भी कभी-कभी इस बात का ध्यान नहीं रहता। वे औद्योगिक विकेन्द्रीकरण का समर्थन कर उसीके रक्षण के लिए मजबूत केन्द्रीय सत्ता की (अक्सर बीच के समय के लिए) कभी-कभी माँग करते हैं। साम्यवादियों की कल्पना में भी राज्यसत्ता आखिर कड़ी गर्मी में रखे हुए घी की तरह पिघल जानेवाली है। पर उससे पहले उसे बर्फ जमे हुए घी की तरह ही नहीं बल्कि 'गाडफ्री' के सिर में मारे हुए चोर के हथौड़े जैसी ठोस और मजबूत चाहिए। 'बीच के समय के लिए मजबूत केन्द्रीय सत्ता' की परस्पर-विरोधी दलील भी यह कहकर उठ पुराने जमाने से लेकर आज तक के सत्ता-धर्मी जिम्मेदार महाजन करते आये हैं। किन्तु केवल गांधीजी ने ही आदि, मध्य और अन्त—तीनों कालों के लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण की योजना की कल्पना की। लेकिन हमारे ये मित्र कहते हैं "उसे आप चाहे 'रामराज्य' की कल्पना मानकर पुराने सत्ययुग में ढकेल दें या भावी 'सर्वोदय' की योजना समझकर भविष्यकाल पर [illegible], परन्तु [illegible] यह मार्ग न छोड़िये।"

शुरू किया। खोदनेवालों को रत्तीभर भी अनुभव नहीं था। लेकिन कुदाली अपना काम करती रही। खोदनेवालों को पानी का पता नहीं था, कुदाली को था। वह खोदती चली। देखते-देखते पानी ने दर्शन दिये। आसपास के लोग तीर्थरूप मानकर उसका प्राशन करने लगे। तब उस गाँव का पटेल बोला : 'बूढ़े कोटीबाबा (पवनार के लगभग ८ वर्ष के एक कार्यकर्ता और भक्त) भी कुएँ पर काम करने लगे तो फिर हम भी कुआँ क्यों न खोदें ?' उसने अपने गाँव में कुआँ खोदना शुरू किया और सुरगाँव के युवक लड़कों ने तो कमाल ही कर दिखाया। वे बोले : 'दीवाली के दिन हैं। हम लोग बाबाजी के कुएँ पर काम करने चलें।' हमें बगैर सूचना दिये दस-पंद्रह युवक हमारे कुएँ पर आकर उपस्थित हुए और चार घंटे का श्रम-दान देकर बगैर किसी दिखावे या विज्ञापन के लौट गये। जनता के हृदय में जब ईश्वर इतनी दिव्य प्रेरणा जगा रहा है, तो कोई निराश क्यों हो ? रामदास पूछते हैं : 'माँगने के लिए कहाँ जायें, कहाँ जायें, कहाँ जायें ?' माँगने के लिए जायें कहाँ ? अमेरिका के पास ? दूसरे देशों के सामने क्या स्वराज्य भोगनेवाले लोग हाथ पसारें ? आओ, हम भगवंत की उपासना करें और उसीसे माँगें। वह कह रहा है : 'माँगो तो मिलेगा, खोजो तो हासिल होगा।'"

कम-से-कम मुझे तो आज 'कांचन-मोह-मुक्ति' और 'शरीर-परिश्रम' में ही भारत का उद्धार दिखाई देता है। इसीमें गांधी-विचार का सार दिखाई देता है। साम्यवाद से उसका मेल दिखाई देता है। उसीमें साम्यवाद का हल दिखाई देता है और उसीमें पूँजीवाद का भी।

परधाम, पवनार

११

सर्वोदय की दीक्षा

रचनात्मक काम करनेवाले संघ अब तक अलग-अलग अपना काम कर रहे थे। यद्यपि यथावसर उनमें सहकार भी होता था, फिर भी दृष्टि एकांगी होने के कारण उनमें से अहिंसक जीवन का तेज पैदा न हो सका। इसलिए सब मिलकर सम्मिलित काम करें, इसकी जरूरत महसूस होने लगी। रचनात्मक कार्यकर्ता सम्मेलन में इस तरह का प्रस्ताव भी हुआ। प्रस्ताव के अनुसार वे संघ एकीकरण की दृष्टि से सोचने भी लगे हैं। संघ सम्मिलित हों, इसका अर्थ है कि कार्यकर्ता अपने जीवन में ऐसा परिवर्तन करें। इसके लिए हरएक व्यक्ति कम-से-कम निम्नलिखित बातों पर अमल करे, ऐसा मार्गदर्शन कराया गया है। चरखा-संघ ने इस तरह का प्रस्ताव भी किया है :

१ नियमित रूप से सूत कातें।

२ स्वयं के या कुटुम्ब में कते सूत की [illegible] पूर्ति के लिए प्रमाणित खादी भण्डार की खादी पहनें।

३ जहाँ तक बने, ग्रामोद्योगी चीजों का प्रयोग करें।

४ घर में रहने पर खास कर गाय के दूध का ही उपयोग करें।

५ महीने में कम-से-कम एक बार भंगी-काम या ग्राम-सफाई करें।

६ जहाँ संभव हो, वहाँ अपने बच्चों को बुनियादी तालीम दिलायें।

७ नागरी, उर्दू और किसी द्रविड़ लिपि का अभ्यास करें।

इनमें से एक-एक का सिलसिलेवार विचार करें।

१ इसमें नियमित कताई कर्मकाण्ड के तौर पर कल्पित नहीं, बल्कि यह जीवन [illegible] का एक चिह्नमात्र है। लोग-बाग सब मिलकर इस तरह कुछ सूत्र ग्रहण करें तो शक्ति का साक्षात्कार हुआ करता है। यह सर्वोदय की दीक्षा है। [illegible] इनी में से काटने की कल्पना न करें। कताई स्थिर

धुनाई आदि किया करके पूनी बनायी जाय। इसे भी कातने का ही एक हिस्सा मानो। किसी दिन काता न गया और केवल पूनी ही बनायें तो कोई हर्ज नहीं। काता हुआ सूत गुण्डी करके रखने पर काम पूरा समझा जायगा।

२ जो उत्तम सूत कात सकते हों वे अपने सूत का कपड़ा दूसरों को देकर उनके मोटे सूत का कपड़ा खुद पहनें, तो उसमें कोई बाधा नहीं। स्वावलम्बन-सहित परस्पर सहकार करना और भी अच्छा है। मर्यादित खादी-भंडार पूर्तिमात्र के लिए हो वही अन्तिम ध्येय न बने।

३ ग्रामोद्योगी चीजें बहुत हैं, इसलिए 'जहाँ तक बने' शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी निमित्त से छुटकारा पाने का उसमें हेतु नहीं। नियम की असली दृष्टि महान है। दृष्टि होने पर सभी नियम भौंउवाले बन जाते हैं। दृष्टि के बिना य मये और आरम्भ भी हो सकते हैं।

४ गाय के दूध का नियम, ग्वाला दूध में पानी मिलाकर जैसे उसे पतला बनाता है वैसे ही पानी डालकर हलका बनाया है। मुसाफिरी की दिक्कत उसमें नहीं और श्रम का विरोध भी नहीं। भैंस का कुछ-न-कुछ रक्षण होता ही है। पर गाय का विशेष रक्षण की आवश्यकता है। इतनी ही उसमें दृष्टि है।

यदि हरिजन और 'परिजन' का भेद नष्ट करना हो, तो हरिजनों के माने गये कामों की भी अस्पृश्यता नष्ट करनी होगी। इसके लिए स्वास्थ्य के नाते यह नियम है। हरएक गन्दगी करता है और हरएक का उसे साफ करना [illegible] है। यह सबका ही काम है। स्वधर्मीय माने जानेवाले लोग यदि स्वच्छता और निष्ठा से [illegible] तो एक सामाजिक क्रान्ति होगी जिसकी

मेरी खास सूचना है। उसके बगैर सारे हिन्दुस्तान की एकता सध नहीं सकती। लिपि के साथ भाषा अपने-आप आती है। द्रविड़ों की चार भाषाएँ और तीन लिपियाँ हैं। कोई भी एक सीख लेने से काम बन जाता है। विचार ध्यान में आ जाय तो मुश्किल कुछ भी नहीं और मकसद बहुत है। उत्तर की लिपि-भेद से पीड़ित भाषाएँ दक्षिण के लोगों के लिए जितनी मुश्किल हैं उससे दक्षिण की भाषा उत्तरवालों के लिए अधिक मुश्किल नहीं, यह मैं अनुभव से जानता हूँ। वह कुछ भी हो लेकिन एकता के लिए हम उन्हें हिन्दी सीखने के लिए विवश कर और खुद कुछ न करते हुए मुफ्त में एकता करने का पुण्य लूटें, यह शोभनीय नहीं। दूर दृष्टि से देखा जाय तो यह फलनेवाला भी नहीं है। लिपि सीखने का सरल तरीका यह है कि वर्णमाला का सामान्य परिचय कर लेने के बाद गीता जैसा परिचित ग्रंथ उस लिपि में पढ़ा जाय। इससे लिपि सहज ही आँखों में भर जाती है। तमिल या लोकनागरी की तरह संयुक्ताक्षर हलन्त चिह्न से बनाये जायें तो लिपि सीखना एक खेल हो जायगा। लेकिन यह बात उन उन भाषावालों को सूझेगी तब!

यह जीवन-शुद्धि का एक कार्यक्रम है। उन उन संघों के अनुयायियों के लिए यह अवश्य कर्तव्य होते हुए भी सभीके लिए अनुकरणीय है। सर्वोदय समाज के सेवक अगर उसके अनुसार चलेंगे तो समाज अग्नि की तरह चारों ओर फैल जायगा। ये नियम केवल निर्देशक हैं। जीवन-शुद्धि के ख्याल से हरएक को ऐसे और भी नियम अपने लिए बना लेने चाहिए। लेकिन इसमें दो बातों का परहेज रखा जाय। पहली बात यह कि नियमों का बोझ न होने दें। नियमों के कारण जीवन को व्यवस्थित मोड़ मिलना और जीवन आसान बनना चाहिए। दूसरा परहेज यह है कि दूसरों के दोष देखने के चश्मे से इन नियमों का उपयोग न करें। नहीं तो उसमें से संकुचित वृत्ति और भेद-भाव निर्माण होगा। अगर सेवक बनना चाहें तो ये दो बातें ध्यानमें रखकर नियमों का पालन करें।

——

सर्वोदय दिन का कार्यक्रम

गांधीजी का निर्वाण-दिन इसी महीने की ३० तारीख को आता है। उस दिन उन्हें गये एक वर्ष पूरा होता है। देशभर गाँव-गाँव में, उस निमित्त कुछ-न-कुछ कार्यक्रम होगा और उचित भी है। हम जैसे साधारण लोगों को महान् पुरुष के स्मरण का ही आधार होता है।

तीस जनवरी 'सर्वोदय-दिन' क्यों ?

मैं उस दिन को गांधी-स्मरण-दिन न कहते हुए 'सर्वोदय-दिन' कहता हूँ, क्योंकि आखिर व्यक्ति की अपेक्षा विचार पर दृष्टि स्थिर होना अधिक आवश्यक है। मैं हाल ही में साधु-समाज में गया था। वहाँ उन लोगों से कह आया। साधु का नाम मिट जाय और भगवान् का नाम रहे। यहाँ भी मैं वही कहता हूँ। गांधीजी को इस बात की विशेष चिन्ता थी। उनके जन्म दिवस को लोग गांधी-जयन्ती कहते थे। लेकिन गांधीजी कहते : "इसे आप 'चरखा-जयंती' [illegible] विचार आपके पास रह जायगा।" जमनालाल से जिक्र हुआ [illegible] में आया। उसमें वे लिखते हैं : "मेरा [illegible] नाम आ जायगा।" ज्ञानदेव ने भी भगवान से यही

नहीं है। गांधीजी खुद को साधारण पुरुष समझते थे। उनका वैसा ही रहने देना अच्छा है। इससे हमें बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। अगर नाम ही लेना हो तो हत्याकारी का प्रहार शरीर को लगते ही सहज प्रक्रियावश से जो नाम गांधीजी के मुख से निकला, वही हम क्यों न लें? इसीलिए मैं उनके स्मृति-दिन को 'सर्वोदय दिन' कहना चाहता हूँ।

सार्वजनिक सफाई करें

इस दृष्टि से यदि हम यह दिन क्रियाशील चिन्तन में व्यतीत करें, तो बहुत बड़ा काम होगा। उस दिन सामुदायिक तौर पर कुछ निश्चयात्मक कार्यक्रम होना चाहिए। हमारे जीवन में निष्क्रियता बहुत है। कर्म द्वारा उपासना—जो सभी धर्मों की शिक्षा है, लेकिन हम जिसे भूल गये और जो गांधीजी के जीवन में ओतप्रोत थी—हमारे जीवन में स्थिर होनी चाहिए। इसलिए मैं सुझाऊँगा कि उस दिन सब मिलकर सार्वजनिक सफाई का काम करें। सभी भंगी बनकर सारा देश आईने की तरह चमका दें। भंगियों को अस्पृश्य समझकर हमारे देश ने बहुत बड़ा पाप किया है और देशभर इतनी गन्दगी फैला दी है कि वैसी दूसरे किसी भी सुधरे देश में देखने को न मिलेगी। हमें उसका प्रायश्चित्त करना ही चाहिए। छोटे-बड़े सब नम्र बनें। सबसे जो नीचा है, वह मैं ही हूँ इस भावना से हम यह सेवा का काम करें।

सूत कातें

वैसे ही इस देश को उत्पादन की भी बहुत आवश्यकता है। इसलिए सब लोग चरखा अवश्य चलावें और प्रेम-सूत्र से सबके हृदय एक साथ जोड़ दें। कातने का काम ऐसा है कि असमर्थ रोगी को छोड़ छोटे-बड़े सभी आसानी से कर सकते हैं। इसलिए उत्पादन की दृष्टि से सूत कातने का काम किया जाय।

चित्त-शुद्धि का कार्यक्रम

ये दो क्रियात्मक कार्यक्रम हुए। इनके अलावा सामुदायिक प्रार्थना भी होनी चाहिए। उसमें सब जातियों के लोग सम्मिलित हों और वहाँ परमात्मा के नाम से सबके हृदय शुद्ध और एकमात्रासम हों। हो सके तो उस दिन उपवास भी किया जाय। उससे शुद्धि में मदद होगी।

सर्वोदय का चिन्तन

इस कार्यक्रम के साथ सर्वोदय के विचार का चिन्तन भी होना चाहिए। वह अनेक प्रकार से हो सकता है। चिन्तन ऐसी महान् वस्तु है कि उसमें हम चाहे जितने गहरे जा सकते हैं। हमें विरोधियों का नहीं, बल्कि सबका उदय साधना है यह एक चिन्तन हुआ।

किसीके भी हित से दूसरे किसीके हित का विरोध हो नहीं सकता, सबके हित अविरोधी होते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस भेदों के कारण सुख-दुःखों में भेद हो सकता है। लेकिन हितों में वैसा भेद नहीं होता यह दूसरा चिन्तन है।

मैं सबमें हूँ और सब मुझमें। इसलिए सबकी सेवा में धन्य हो जाना मेरा कर्तव्य है यह तीसरा चिन्तन है।

इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सब साधने के लिए संयम का व्रत अनिवार्य है। आप तो हमारा किसी पर भी आक्रमण नहीं होगा इसकी चिन्ता रखनी चाहिए, संयम सीखना चाहिए। इस तरह उस दिन अनेक प्रकारों से सर्वोदय का चिन्तन किया जाय।

सर्वोदय समाज और सर्व-सेवा-संघ

'सर्वोदय-समाज' एक विशाल समुद्र है। उसकी गहराई का हमें अभी तक पता नहीं। फिर भी वह अमृत का ही समुद्र है, इतना अवश्य जानते हैं। इसीलिए उसमें डूबने का भय नहीं निःशंकभाव तैर सकते हैं। तैरने के लिए वहाँ दिशायें खुली हैं। उसमें चाहे अकेले कूदिये या दस-बीस मिलकर। चाहे तो ऊपर ही ऊपर तैरिये चाहे डुबकी लगाकर गहरे पानी पैठिये। नौका-विहार का आनन्द भी लूट सकते हैं।

सेवक सर्व-तंत्र-स्वतंत्र

सर्वोदय-समाज का प्रत्येक सेवक सर्व-तंत्र-स्वतंत्र है। उसे किसी प्रकार का बंधन नहीं। अपनी जगह बैठकर वह व्यक्तिगत काम कर सकता है। आवश्यक हुआ तो संगठनपूर्वक भी काम कर सकता है। जो अनेक काम सुझाये गये हैं उनमें से चाहे कोई एक या अनेक काम वह अपनी शक्ति के अनुसार, उठा सकता है। अथवा उन्हीं जैसे अन्य भी कोई काम—जो उसे सूझ पड़ें पसंद आयें और जंच सकें—वह कर सकता है। रचनात्मक काम करनेवाली अखिल भारतीय प्रतिष्ठा-प्राप्त संस्थायें उसकी मदद के लिए सदैव समर्थ हैं। अब वे सभी 'सर्व-सेवा-संघ' नाम से एक बन गयी हैं। उनकी मदद के बिना वह आगे बढ़ नहीं सकता। वह ज्ञानियों से सलाह भी ले सकता है। उसे अमल में ला सकता है या उसके अलग प्रयोग भी कर सकता है। सेवक के नाते वह अपना नाम सर्वोदय-समाज के कार्यालय में दर्ज करा सकता है और दर्ज न कराते हुए भी काम कर सकता है। प्रतिवर्ष एक सम्मेलन होगा उसमें वह स्वेच्छा से आ सकता है उसे कोई न रोकेगा। वह न आना चाहे, तो नहीं भी आ सकता। इसके लिए कोई उसे विवश भी न करेगा। यदि वह सर्वोदय-विचार अमल में लाने के लिए अपनी कल्पना के अनुसार कुछ काम करे, तो भी कोई उसके

सेवकत्व से इनकार नहीं कर सकता। सेवक के नाते उसे कोई 'हक' प्राप्त नहीं, सभी 'कर्तव्य' ही प्राप्त हैं। उन कर्तव्यों का पालन करने में वह किसी भी सज्जन का सहयोग ले सकता है, फिर वह (सज्जन) चाहे किसी भी गुट या दल का हो। हाँ, वह एक ही बात नहीं कर सकता : "सत्य और अहिंसा को छोड़ नहीं सकता।" यही उस सर्वोदय-समुद्र का अमृत है।

अपना रंग चढ़ाना ही काम

सेवाग्राम में हम लोगों ने तय किया था कि "हमें कोई दल या वाद खड़ा करना नहीं है। पूरे समाज में हिल-मिलकर उस पर अपना रंग चढ़ाना है।" हमारा रंग विकार या अहंकार का नहीं है। वह सर्वअभिमानवर्जित परिशुद्ध आत्मा का ही रंग है। वास्तव में जो सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक और व्याप्ति, देश, पंथ, कुल, वर्ण और रंग से अतीत है, वही हमारा रंग है और हम दुनिया पर उसीका रंग चढ़ाना चाहते हैं। इसके लिए हमीको सब प्रकार से सेवा करनी पड़ेगी। यही विचार कर राऊ में हमने 'सर्व-सेवा-संघ' की स्थापना की। अब अनुगुळ में सर्वोदय समाज और सर्व-सेवा-संघ का नाता जोड़ दिया। दोनों में क्या संबंध और क्या भेद है, इसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न भी वहाँ किया गया। इससे लोगों के मन में विचार स्पष्ट होने की अपेक्षा और भी अस्पष्ट हो गया। कभी-कभी दुखी चर्चा चलने पर ऐसा भी परिणाम दिखाई पड़ता है।

नहीं है। आज के युग में बिना राजनीति के कोई भी सामाजिक क्रांति हो नहीं सकती।" मैंने कहा कि इसमें आपने तीन नयी बातें कही हैं और तीनों की जड़ में भ्रम भरा हुआ है। पहली बात आप यह समझ बैठे हैं कि 'सर्वोदय समाज में शामिल होना पड़ता है।" पर वैसी कोई बात नहीं। जिसे सर्वोदय विचार मान्य हो, वह सर्वोदय-समाज में है ही। जो नाम लिखायेगा, वही सर्वोदय-समाज का सेवक होगा ऐसी कोई बात नहीं। नाम कुछ हजारों के ही लिखे जायेंगे पर समाज के अलिखित सेवक लाखों होंगे यही हम आशा रखते हैं। इसलिए जिनके नाम लिखे न गये हों वे यदि कहें कि हम सर्वोदय-समाज के हैं तो सचमुच वे हैं ही।

दूसरी बात, आपने यह मान लिया कि "सर्वोदय-विचार में राजनीति नहीं है।" अवश्य ही केवल सत्ता का लोभ रखनेवाली अदूरदर्शी राजनीति उसमें नहीं है। कारण वैसी राजनीति सर्वोदयकारी नहीं हुआ करती। वह स्वार्थी या स्वकीयार्थी ही होती है। तुलसीदासजी का एक बड़ा ही मार्मिक वचन है जिसका भाव यह है कि "अपना हित चाहनेवाले तो सभी हैं स्वकीयों का हित चाहनेवाले कुछ लोग हैं पर सबका हित चाहनेवाले तो सिर्फ हरि-चरणों के दास ही होते हैं।" हरि-चरणों के दास किसी भी विशिष्ट दल की राजनीति को मान नहीं सकते। उनकी राजनीति शक्ति-संचयकारी और भेदकारी नहीं होती। वह ऐसी ही होती है, जो सबको जोड़ती और सबकी शक्ति बढ़ाती है।

तीसरी बात आप यह समझ बैठे हैं कि 'आज के युग में सामाजिक क्रांति राजनीति के सहारे ही हो सकती है।' किन्तु यह भावी समय को न पहचानने का ही एक लक्षण है। एक सत्ता के दिन बीते और अल्पसंख्यकों के दिन भी लद गये। बहुसंख्यकों की सत्ता के दिन भी बीते जा रहे हैं और अब सभीकी सत्ता के दिन आ रहे हैं। जो इस बात को समझता है सचमुच वही देखता है—वही आँखवाला है। 'सबकी सत्ता' का अर्थ सिर्फ सबके वोट या मत नहीं बल्कि सबका हार्दिक सहयोग ही है। सबमें मैं हूँ और मुझमें सभी हैं इस अनुभूति की सत्ता का युग आ रहा है। यदि हम उसके अनुरूप बन जायें तो हमें सफलता मिलेगी। यदि हम अनुरूप न बने, तो भी वह हमारी परवाह न कर आयेगा ही। यह विचार-क्रांति की बात है। विचार-क्रांति किसी भी युग में

राजनीति की चेरी नहीं बन सकती। इस युग में भी नहीं। ऊपर-ऊपर भले ही दिखाई पड़े कि सत्ता हाथ में आने के साथ ही हम तत्काल पूरा परिवर्तन कर सकेंगे। अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षण चलायेंगे और अपने विचारों से सबके दिमाग भर देंगे। किन्तु यह कोरा आभास है। ताश का बंगला जैसे खड़ा होता है वैसे ही वह भी खड़ा है। जब राजकीय सत्ता शिक्षा पर अंकुश रखकर सबको एक विचार का यानी स्वतन्त्र विचार-शून्य बना देती है तो समझ लीजिये कि उस सत्ता के समूल उच्छेद की तैयारी हो गयी। हवा का एक झोंका आते ही वह मीनार ढह जाती है।

सत्य संघटना

सर्वोदय विचार की यही खूबी है कि इसमें स्वतंत्र और विभिन्न विचारों को पूरा पूरा अवसर है। वह किसी व्यवस्था या किसी बाह्य आकार का आग्रह नहीं रखता। वह कोई चौखट नहीं मानता। साँचा बनाना नहीं चाहता। वह संघटन को ही शक्ति मान नहीं बैठता, पर सत्य को ही शक्ति पहचानता है। वह इस भ्रम में नहीं पड़ता कि अशक्ति संघटित होते ही शक्ति बन जाती है। आलसी लोगों ने शक्तिशाली बनने का यह सरल तरीका खोज निकाला है। यदि रोगों का संग्रह करने से ही स्वास्थ्य बनता हो न वैद्य की जरूरत पड़ती न औषधि की और न पौष्टिक अन्न की ही। पर हिंसा में यह सब खप जाता है। रण काल की फौज खड़ी करते ही राष्ट्र बलवान् बन जाता है। कहा जाता है कि सिपाही जीत गये, तो राष्ट्र भी जीत गया, पर यह नहीं कहा जा सकता कि सिपाही को भोजन मिलते ही राष्ट्र को भी भोजन मिल गया। कहते हैं संघे शक्तिः कलौ युगे—यानी कलियुग में संघ में ही शक्ति का निवास है। पर यह नहीं पहचानते कि अब कलियुग बचा ही नहीं। अब तो कृतयुग = कृति युग सत्कृति-युग आ गया है। कलियुग तो कभी का खतम हो गया। अब मैं जाग उठा तो फिर कलियुग कहाँ रहा! इसलिए हम कभी भी इस भ्रम में न पड़ें कि हम जमात या चुनाव जीतकर क्रान्ति लायेंगे।

सेवक अपने लिए स्वयं उत्तरदायी

सेवक संघटन के पीछे क्यों नहीं पड़ता। इसमें भी उसकी अपनी एक दृष्टि

है। सर्वोदय का सेवक चाहे जो काम करने के लिए स्वतंत्र है, यह मैं पीछे कह ही आया हूँ। आवश्यक प्रतीत होने पर वह स्थानिक संघटन भी कर सकता है। वह संघटन विचारनिष्ठ ही होगा। उसमें प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से पूर्ण परिचय रहेगा। दंभ के लिए अवसर ही न रहेगा। उसमें अभिमान घुस ही न पायेगा। जब छोटे पैमाने पर कोई चीज बनती है तो उस समय इन दोषों से बचना सुकर हुआ करता है। किन्तु दंभ और अभिमान इतने सूक्ष्म दोष हैं कि चाहे जहाँ प्रवेश कर सकते हैं। यदि सेवक को दिखाई पड़े कि उसके छोटे-से संघटन में भी ये दोष घुसने लगे हैं, तो वह उस संघटन को तोड़ भी डालेगा। वैसे तो वह ऐसा प्रसंग आने ही न देगा। किन्तु जो भी कुछ वह करेगा उसका सारा उत्तरदायित्व उसी पर रहेगा। वह अपना उत्तरदायित्व समझकर ही कुछ करेगा और उसे पूरा करेगा।

सर्व-सेवा-संघ का स्वरूप और कार्य

इस तरह सर्वोदय-समाज का स्वरूप और सर्वोदय-समाज के सेवक का व्यक्तिगत कर्तव्य स्पष्ट हो जाने के बाद 'सर्व-सेवा-संघ' इनके बीच कहाँ बैठ पाता है, यह भी समझ लेना चाहिए। सर्व-सेवा-संघ सर्वोदय-समाज के सेवकों को सलाह और मदद देनेवाली एक संयुक्त संस्था है। यह स्पष्ट है कि वह एक संघटना है फिर भी वह मानवों की संघटना न होकर कार्यों की संघटना है। वह सर्वोदय-समाज का कार्यालय सँभालेगा सर्वोदय-यात्राओं का आयोजन करेगा चरखा-संघ ग्रामोद्योग-संघ, तालीमी संघ आदि संघों के कामों का संयोजन करेगा साहित्य का प्रकाशन करेगा और अन्य भी बहुत से काम करेगा। उसके पास सेवा के सिवा और किसी भी प्रकार की सत्ता न रहेगी। वह किसी भी राजनीतिक दल से सबद्ध न रहेगा। यही इस संघटन के विषय में मेरी कल्पना है।

अनुयुक्त-सम्मेलन की चर्चा की पूर्ति

श्री दादा धर्माधिकारी ने मुझसे कहा "अनुयुक्त-सम्मेलन पर हमें आपकी एक टिप्पणी चाहिए।" मैंने सोचा अनुयुक्त तो मैं गया ही नहीं। फिर भी मुझे लिखाना ही है, तो अनुयुक्त की चर्चा का जो वृत्तान्त सुना उसकी पूर्ति के रूप में कुछ लिखूँ। इससे विचारों की सफाई में मदद मिलेगी। इसी दृष्टि से मैंने ये कुछ प्रासंगिक विचार लिखे हैं।

स्वराज्य-शास्त्र

निवेदन

स्वराज्य-शास्त्र-सम्बन्धी इस छोटे-से टिप्पण की कल्पना दरअसल नागपुर जेल में की गयी थी। उसीको कुछ सुधारकर पाठकों के सामने रखा जाता है। मुझे कहना चाहिए कि अगर श्री [illegible]जी इसे आदरपूर्वक ही नहीं, बल्कि आग्रहपूर्वक भी खुद 'कलमनवीस' बनकर मुझसे न करवाते, तो कम-से-कम फिलहाल इसके साकार होने की बहुत सम्भावना नहीं थी।

राज्य एक बात है और 'स्वराज्य' दूसरी बात। राज्य हिंसा से प्राप्त किया जा सकता है किन्तु 'स्वराज्य' बिना अहिंसा के असम्भव है। इसलिए जो विचारशील हैं वे 'राज्य' को नहीं चाहते बल्कि यह कहकर तड़पते रहते हैं कि "आओ हम सब स्वराज्य के लिए यत्न करें।" "न त्वहं कामये राज्यम्" यह उनका निषेधक और "यतेमहि स्वराज्ये"—यह विधायक राजनैतिक उद्घोष होता है।

स्वराज्य वैदिक परिभाषा का एक शब्द है। उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है: स्वराज्य यानी प्रत्येक व्यक्ति का राज्य यानी ऐसा राज्य जो प्रत्येक को अपना लगे अर्थात् सबका राज्य, दूसरे शब्दों में 'रामराज्य'।

स्वराज्य शास्त्र नि[illegible]-अधिगत है अतः उसकी पद्धति देश-कालानुसार तत्त्व परिवर्तनशील है, परन्तु [illegible] के मूलतत्त्व शाश्वत हैं। उन शाश्वतों के आधार पर यह [illegible] सोचा गया है। यह कहना नहीं होगा कि इसका विस्तार जितना [illegible] किया जा सकता [illegible] इस काम को यथासम्भव और यथावश्यक संक्षिप्त [illegible] ठीक रहेगा।

[illegible]

विनोबा

पहला प्रश्न

प्रश्न : आज संसार में कितने और किन प्रकार के राजनैतिक विचार प्रचलित हैं ?

१

राजनैतिक प्रश्न किसे कहते हैं ?

उत्तर : (१) सबसे पहले हम यही देख लें कि राजनैतिक विचार वस्तुतः कितने प्रकार के हो सकते हैं। वास्तव में जितने प्रकार के हो सकते हैं उनकी अपेक्षा आज के प्रचलित प्रकार या तो कम होंगे या उतने ही। उनसे अधिक तो हो ही नहीं सकते। लेकिन इसका उत्तर भी इस प्रश्न पर निर्भर है कि राजनैतिक विचार कहते किसे हैं। इसलिए पहले उसी प्रश्न के विवेचन से हम आरम्भ करें।

अगर संसार में एक ही मनुष्य होता तो उसके सामने राजनैतिक विचार का प्रश्न ही उपस्थित न होता। सिर्फ इतना ही सवाल होता कि अपना जीवन चलाने के लिए वह आसपास की सृष्टि का कितना और कैसा उपयोग करे। लेकिन मनुष्यों का तो एक समूह विद्यमान है। इसलिए उसके सामने इस भौतिक प्रश्न के अतिरिक्त दूसरा सामाजिक प्रश्न भी आता है। अर्थात् इस प्रश्न के अलावा कि सृष्टि पर अधिकार कैसे किया जाय एक दूसरा भी उतने ही महत्त्व का प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि आपस में व्यवस्था कैसे कायम की जाय। इसी दूसरे प्रश्न में से हम जिसे 'राजनैतिक विचार' कहते हैं उसका उद्गम होता है।

पारस्परिक व्यवस्था का पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य की मिल्कियत, जिसमें जमीन और दौलत दोनों शामिल हैं आपस में कैसे बाँटी जायँ ? दूसरा प्रश्न यह है कि मनुष्य अपने पारस्परिक व्यवहार में समाज के मानसिक सुख दुःख का

सन्तुलन कैसे सँभाले ? पहले प्रश्न को मुख्यतः राजनैतिक प्रश्न कहते हैं और दूसरे को सामाजिक। फिर भी दोनों हमेशा एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। इसलिए अन्ततः व्यापक दृष्टि से राजनैतिक प्रश्न में ही दोनों का समावेश हो जाता है। सारांश, 'राजनैतिक प्रश्न याने मानव-समूह या मानव-समूहों की व्यवस्था का प्रश्न'—यह उसकी संक्षिप्त परिभाषा बनती है।

राजनैतिक प्रश्न की प्रचलित कृत्रिम व्याख्यायें

(२) (अ) आज मनुष्य-समाज में अकारण ही उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग, ये तीन वर्गभेद किये जाते हैं और तीनों पारस्परिक व्यवस्था किस प्रकार करें, ऐसा राजनैतिक प्रश्न का कृत्रिम अर्थ किया जाता है। (आ) हिन्दू-समाज में कार्य-विभागानुसार वर्ण-विभाग की कल्पना कर के वर्ण आपस में व्यवस्था कैसे कायम करें, यह राजनैतिक प्रश्न का दूसरा एक कृत्रिम अर्थ किया जाता है। (इ) संसार में कुछ लोगों के पास सम्पत्ति इकट्ठी हो गयी है और कुछ लोग उससे वंचित हैं। आज की इस स्थिति के लिहाज से धनी और गरीब इन मानव तरह के दो वर्गों की कल्पना कर के दोनों आपस में व्यवस्था किस तरह कायम करें, यह राजनैतिक प्रश्न का और भी एक कृत्रिम अर्थ किया जाता है।

इन तीनों व्याख्याओं को 'कृत्रिम' इसलिए कहा गया कि उनकी सारी काल्पनिक या अमूलभूत भेद की नींव पर है। 'ऊपर' 'नीचे' और 'बीच' का अर्थ कल्पना के सिवा कुछ भी नहीं। तीन चार या अधिक वर्ग हमारे ही बनाये हुए हैं। इसलिए उसके आधार पर रची गयी विचार-प्रणाली भी काल्पनिक याने हमारी कल्पना की [illegible] है। जहाँ वह पायी जाती है, वहाँ उसे 'मिथ्या' के [illegible] काल्पनिक न [illegible] तो भी वह मूलभूत तो हरगिज नहीं है। धनवान् और गरीब के [illegible] काल्पनिक करना [illegible] मालूम होता हो, तो भी वह मूलभूत [illegible] नहीं है। अर्थात् [illegible] कारणरूप नहीं, कारणविशेष का कार्य है। [illegible] काल्पनिक भी सिद्ध होता है। [illegible] के कारण धनवान और गरीब का रुपये-पैसे के कारण [illegible] धनवान और आज

कम धनवान् कहलानेवाला श्रम-शक्ति की दृष्टि से गरीब कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'धनवान्' और 'गरीब' ये भेद भी कल्पनाएँ ही सिद्ध होने लगती हैं।

इन तीन तरह के भेदों के अलावा भाषाभेद और धर्मभेद को लेकर पारस्परिक व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित कर उसे भी राजनैतिक रूप दिया जाता है। लेकिन थोड़े विचार के बाद स्पष्ट होगा कि ये भेद भी मूलभूत नहीं हैं।

(६) तो फिर मानव-समूह की व्यवस्था का विचार मूलभूत और स्वाभाविक रूप से कैसे किया जाय ?

राजनैतिक प्रश्न की स्वाभाविक व्याख्या

कुछ व्यक्ति स्वभावतः यानी निसर्गतः ही अधिक बुद्धिमान् या अधिक शक्तिशाली होते हैं। अतएव ही कुछ कम बुद्धिवाले और अल्प शक्तिवाले भी होते हैं। बुद्धि और शक्ति दोनों का समावेश एक 'सामर्थ्य' शब्द में हो सकता है। जिन्हें हम सम्पत्ति, साधन-सामग्री, सत्ता (स्टेट) आदि कहते हैं, वे सारी बातें सामर्थ्य से ही पैदा होती हैं। इसलिए मनुष्यों में कुछ समर्थ और बहुतेरे अ-समर्थ, इस तरह दो वर्गों की कल्पना की जा सकती है।

लेकिन उनके वर्ग-रूप में सिद्ध होने के लिए उनमें संगठन की कल्पना करनी होगी। यानी यदि चार समर्थ व्यक्ति संगठित होकर एक हो जायँ तो समर्थों का वर्ग सिद्ध होगा अन्यथा वह एक कल्पना-मात्र ही रहेगा। असमर्थ एक हो जायँ तो उनका भी वर्ग बनेगा। लेकिन बनते ही वह आत्मरक्षा कर लेगा अर्थात् वह असमर्थ न रहेगा, बल्कि समर्थ बन जायगा। क्योंकि सामर्थ्य जिस प्रकार शक्ति और बुद्धि से उत्पन्न होती है उसी प्रकार संख्या से भी उत्पन्न होती है। इसके विपरीत अगर वह संगठित न हो, तो वर्ग के रूप में एक कल्पना-मात्र ही रहेगा।

तात्पर्य यह कि समाज में स्वाभाविक रूप से वर्ग जैसी कोई चीज ही नहीं है कम या अधिक सामर्थ्यवान् व्यक्ति हैं। "ये कम या अधिक सामर्थ्यवान् व्यक्ति मिलकर अपनी व्यवस्था कैसे करें?"—यह राजनैतिक प्रश्न का मूलभूत और स्वाभाविक अर्थ सिद्ध होता है। इसमें से आरम्भभूत और वास्तविक कर प्रश्नों की कल्पना की जा सकती है और फिर उनका समाधान भी करना पड़ता है।

स्वाभाविक त्रिविध राज्य-पद्धति

(४) इसलिए व्यवस्था-निर्माण के तीन स्वाभाविक प्रकार होंगे। (अ) कोई प्राज्ञ या समर्थ व्यक्ति सबके लिए व्यवस्था करे। (आ) अनेक प्राज्ञ या समर्थ व्यक्ति एकत्र होकर सबके लिए व्यवस्था करें। (इ) सब मिलकर समान जिम्मेदारी से अपनी व्यवस्था कर लें। राज्य-व्यवस्था के इन तीन स्वाभाविक प्रकारों को हम 'एकायतन' 'अनेकायतन' और 'सर्वायतन' ये पारिभाषिक नाम दें।

त्रिविध राज्य-पद्धति के सम्भाव्य प्रकार

(५) किन्तु नैसर्गिक भेद ये तीन ही बनते हैं, तो भी उनमें से हर स्वाभाविक और कृत्रिम या काल्पनिक पर अवश्य विचारणीय उपाधियों के आधार पर अवान्तर भेद भी हो सकते हैं। एकायतन और सर्वायतन ये दो प्रकार सर्वथा एकान्तिक अतएव एकविध हैं। लेकिन अनेकायतन-पद्धति दूसरी अनेक पद्धतियों को जन्म दे सकती है। उसके दो स्वाभाविक विभाग होते हैं। अल्पसंख्यायतन और बहुसंख्यायतन। 'बहुसंख्या' याने वह अमर्यादित ग्राम जनता जिसे लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती का हिस्सा बहुत थोड़ा नसीब हुआ हो। उसका स्वरूप आमतौर पर सब देशों में और सब कालों में प्रायः एक ही-सा होता है। इसलिए बहुसंख्यायतन राज्य पद्धति एकविध ही ठहरती है। शेष अल्पसंख्यायतन राज्य पद्धति में ज्ञानिक सत्ता, क्षात्रिक सत्ता और धनिक सत्ता ये तीन [illegible] सत्तायें उत्पन्न होती हैं। इन तीनों में से दो-दो के मिश्रण से ज्ञान-क्षात्रिक, ज्ञान-धनिक, धन-क्षात्रिक, ऐसी तीन द्विदल सत्तायें पैदा होती हैं। उनमें से फिर महत्त्व-तारतम्य के अनुसार क्षात्र-ज्ञानिक, धन-ज्ञानिक और क्षात्र-धनिक ऐसी और भी तीन द्विदल सत्तायें होती हैं। [illegible] उत्पन्न होंगी। इसी प्रकार तीन मूलभूत [illegible] तीनों [illegible] समभाव और तारतम्य से ज्ञान-क्षात्र-धनिक [illegible] होंगी। यहाँ यह विस्तार समाप्त होता है।

इस [illegible] उनका चित्र हम इस प्रकार खींचें :

राज्य-पद्धति के अवांतर भेद स्वरूपतः अभिन्न

(६) इन अठारह प्रकारों से अधिक राज्य-व्यवस्था के प्रकार सम्भव नहीं हो सकते। वार्णिक [यथा गोरों की कालों पर, सवर्ण हिन्दुओं की अवर्ण हिन्दुओं पर], धार्मिक [यथा ईसाइयों की यहूदियों पर], राष्ट्रिक [यथा इंग्लैंड की हिन्दुस्तान पर], नागरिक [यथा पुराने रोम शहर की तत्कालीन संसार पर] आदि ऐसी अनेक सत्तायें अलग-अलग नामों से भले ही प्रकट हुई हों लेकिन उनका सबका समावेश उपर्युक्त अठारह प्रकारों में कहीं-न-कहीं हो जायगा।

२

सर्वायतन-पद्धति का स्वरूप

(७) राज्यसंस्था की सैद्धान्तिक छानबीन करने पर कितने प्रकार हो सकते हैं इसका विचार अब तक किया गया। इससे स्पष्ट है कि आज दुनिया में

इन्हीं में से कोई न-कोई प्रकार अलग-अलग नाम धारण कर चलते होंगे। यह बात बिलकुल स्थूल-बुद्धि व्यक्ति के भी ध्यान में आ सकती है कि आज सर्वायतन राज्य-पद्धति कहीं भी नहीं है। उसे स्थापित करने का प्रयत्न गांधीजी कर रहे हैं और उसका साधन भी उन्होंने खोज निकाला है जिसका प्रयोग वे भारत में करना चाहते हैं।

'प्रजातन्त्र' नाम धारण करनेवाली और सर्वायतन होने का दिखावा करनेवाली एक राज्य-पद्धति है जिसका स्वांग यूरोप और अमेरिका में रचा जा रहा है। लेकिन हिंसा पर आश्रित कोई भी पद्धति भले ही 'कितने सिर उठते हैं' गिनने का दम्भ करे, वास्तव में सर्वायतन नहीं हो सकती।

इसके विपरीत सब लोग मिलकर सोचकर और सोच-समझकर अपने में से किसी एक को या अनेक को राग-द्वेष रहित भूत-हित-तत्पर, बुद्धिमान् और कुशल जानकर सारी सत्ता सौंप दें, तो यह सत्ता आकार में एकायतन या अनेकायतन भले ही प्रतीत हो, अगर उसका आधार अहिंसा है तो उसे सर्वायतन ही मानना चाहिए।

हिन्दुस्तान के पुराने पंचायती राज्य को इस तरह का कुछ अव्यवस्थित, पर प्रामाणिक प्रयत्न कह सकते हैं। लेकिन पंचायतों का संयोजन करनेवाली व्यवस्था के अभाव में उस प्रयत्न का यथायोग्य और आज की परिस्थिति के लिए अभ्यास करना पड़ता है।

इतना ही कहना काफी होगा कि इस समय सर्वायतन-पद्धति कहीं भी प्रचलित नहीं; भविष्य में उसकी स्थापना करनी है।

तरह की ओर जिम्मेवारी महसूस नहीं करते, इसलिए वे अधिक गैरजिम्मेवार बन सकते हैं। संस्कृत में एक कहावत है कि सूप उतना नहीं तपता, जितनी कि बालू तपती है। संसार के दूसरे हिस्सों में भी कई जगह एकायतन-पद्धति ज्यों-की-त्यों चालू है।

अल्पसंख्यायतन-पद्धति के प्रकार और स्वरूप

(१) अल्पसंख्यायतन-पद्धति के कुछ प्रकार यूरप में और अन्यत्र विशेष ज़ोर पकड़ रहे हैं। नाज़ीवाद, फासिज्मवाद, साम्राज्यवाद, ये कम या अधिक मात्रा में अल्पसंख्यायतन-पद्धति के ही रूप हैं। हिंसा, शस्त्रवाद, संग्रहीत पूँजी बड़े पैमाने पर योजनाएँ उनके हथियार हैं। वे करेंगे तो हिंसा; पर कहते रहेंगे कि यह अहिंसा के लिए ही है। बहुसंख्या को प्रसन्न रखना ज़रूरी है, इसलिए वे हमेशा उसके हित का मंत्र पढ़ते रहेंगे। आघात-प्रत्याघात की पराकाष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जायगी। "संसार की आम जनता हमारी व्यवस्था के बिना कभी व्यवस्थित हो नहीं रह सकती" इसी कल्पना पर सारी इमारत खड़ी है। जब तक बहुसंख्या इतनी अज्ञान या दुर्बल रहेगी कि उसे इस कल्पना के अधीन रहना पड़े तब तक इन पद्धतियों का किसी-न-किसी रूप में बना रहना अनिवार्य है।

बहुसंख्यायतन-पद्धति रूसी प्रयोग

(२) इसके विपरीत रूस ने मानो अल्प आवेश से बहुसंख्यायतन-पद्धति का प्रयोग शुरू किया-सा दीखता है। लेकिन हिंसा कभी और कहीं भी बहुजन समाज का हथियार नहीं हो सकती। इसलिए रूस का प्रयोग वस्तुतः शस्त्र-शास्त्र-धनिक अल्पसंख्यायतन-पद्धति का प्रयोग ठहरेगा। स्टालिन की वर्तमान नीति यह अनुमान प्रमाणित करती जा रही है। शस्त्र से बनाया हुआ राज्य शस्त्र से ही कायम रखना होगा और यह परिस्थिति में शस्त्रास्त्रों की तैयारी के बिना सफलता प्राप्त नहीं हो सकती यह आम रूप ही गुप्त है। इसलिए बहुसंख्या का शस्त्रों में संभ्रम करना ही होगा। बहुसंख्या स्वभावतः शस्त्र-धारण में असमर्थ होती है। इसलिए उसे उस काम में निपुण अल्पसंख्या के ही अधीन रहना पड़ेगा। इस
तरी योजना

ही होगा। फिर इतना होने पर वह प्रयोग बहुसंख्यावतन नहीं रह सकता। जब तक बहुसंख्या को वह हितकर प्रतीत हो तब तक बेचारा भले ही चलता रहे।

आज हमने उस प्रयोग को 'शस्त्र-शास्त्र-धनिक' नाम दिया; परन्तु संख्यों के तीन गुणों की तरह जब शास्त्र, शस्त्र और धन की एकत्र आवश्यकता होती है, तब तीनों में से कौन कब और कितना प्रकट होगा इसका ठिकाना नहीं। इस-लिए भाषा में और निश्चित शब्दों में उसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि "कदाचित् ईमानदारी से बहुसंख्या के हित के लिए शुरू किया हुआ लेकिन वस्तुतः अल्पसंख्यायतन-पद्धति का ही वह एक नये प्रकार का प्रयोग है।"

'नये प्रकार' से मतलब ऊपर गिनाये हुए प्रकारों के अलावा किसी नये प्रकार से नहीं। "गिनाये हुए प्रकारों में से ही एक, लेकिन शायद पहले कभी न किया हुआ"—इतना ही 'नये' से मतलब है। मनुष्य का इतिहास दस-पाँच लाख वर्षों का होने का कारण निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ऐसा प्रयोग पहले कभी हुआ ही न होगा। मनुष्य के विचारों का चक्र परिचित रास्ते से भी अपरिचितपूर्वक नित्य नूतन घूमता ही रहता है। किसी माता को जब पुत्र होता है तो उसकी मानसिक प्रवृत्ति इतने आनन्द और उत्साह से भरी रहती है, मानो आज तक किसी भी माता को ऐसा बालक कभी हुआ ही न हो।

× × ×

संसार में कितनी और किस तरह की राज्य-पद्धतियाँ चल रही हैं और कौन कौन से विचार प्रवाह मौजूद हैं इसका यह संक्षिप्त विवरण है। ● ● ●

अपने मत के अनुसार जीवननिष्ठ ही होते हैं और इसीलिए वादनिष्ठ या पद्धतिनिष्ठ होते हैं। तत्त्वज्ञानी विचार द्वारा यह मानता है कि अमुक 'वाद' के बिना जीवन अच्छा बन ही नहीं सकता और इसलिए याने अपनी जीवननिष्ठा के कारण ही वह वादनिष्ठ होता है। व्यावहारिक मनुष्य अपने अनुभव से यह ठहराता है कि अमुक पद्धति के बिना जीवन अच्छा बन ही नहीं सकता और इसलिए याने अपनी जीवननिष्ठा के कारण ही वह पद्धतिनिष्ठ होता है। फिर भी आग्रह और मोह के कारण कभी-कभी जीवननिष्ठा किनारे रह जाती है और केवल वादनिष्ठा तथा पद्धतिनिष्ठा लोगों के—तत्त्वज्ञों व्यावहारिकों और दूसरे लोगों के भी—मनों पर कब्जा करने के लिए अधिकार जमा के पाती हैं।

राज्य-पद्धतियों का चतुर्विध निष्कर्ष

(१२) लेकिन किसी भी राज्य में सभी वादों पद्धतियों और उन पद्धतियों के व्यवहार के नीचे लिखे अंश समान समझने चाहिए

(अ) जीवननिष्ठा वास्तविक या कम-से-कम, दिखाऊ अन्तिम कम-से कम तात्कालिक सार्वत्रिक या कम-से-कम स्थानीय।

(आ) बहुसंख्यकों का और सबका सहकार। स्वेच्छापूर्वक (ज्ञानपूर्वक या मूक) या बलपूर्वक परिपूर्ण या पर्याप्त-सा।

(इ) समर्थ व्यक्तियों के हाथ में राज्य का प्रत्यक्ष संचालन। चुने हुए या नामजद अथवा स्वतः एकत्रित।

(ई) अन्तिम प्रमाण एक व्यक्ति। सबके द्वारा अधिकांश के द्वारा या अल्पसंख्या के द्वारा (प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से) निर्वाचित अथवा स्वयंभू।

राज्य-पद्धतियों के विविध विशेषण

(१ [illegible]) इतना अंश समान होने पर भी पद्धतियों और वादों का यह झगड़ा किस [illegible] [illegible] परिवर्तन और क्रान्तियाँ क्यों? पद्धतियों की तुलना [illegible] [illegible] भिन्न बातों के आधार पर की जाय? इन सब प्रश्नों [illegible] [illegible] अंश का विवेचन करते हुए उसे जो विविध [illegible] [illegible] हैं।

[illegible] जीवन नष्ट [illegible]) अगर वह केवल स्थानीय हो, तो अन्य

स्थानीय जीवन से उसका विरोध होता है। इस तरह की विरोधी जीवननिष्ठा टिक नहीं सकती। वह नयी पद्धति को जन्म देकर स्वयं नष्ट हो जाती है। (२) अगर वह तात्कालिक यानी अदूरदर्शी हो तो उछाले हुए फुटबाल की तरह उसका वेग मन्द होता जायगा और उसे नवीन वेग की आवश्यकता रहेगी। (३) अगर वह भावनिक यानी केवल दिमागी हो तो जब तक आभास का जादू रहेगा, तभी तक वह टिकेगी।

(आ) बहुजन-समाज का सहकार: (१) अगर वह जबरदस्ती का हो तो बहुजन-समाज जब तक जाग्रत और समर्थ नहीं होता तभी तक जैसे-तैसे चल सकेगा। (२) जबरदस्ती का होते हुए भी अगर थोड़ा-बहुत सुख हो, तो उसके लोभ में वह अधिक समय तक टिक सकेगा। (३) जबरदस्ती के शासन में यदि कुशल शासक-वर्ग अशिक्षण या कुशिक्षण की ऐसी योजना कर सके, जिससे जन-जागृति होने न पाये, तो वह और भी अधिक टिक सकेगा। (४) मानसिक सुख न दे सकने पर भी अगर गौण सुखों का आभास उत्पन्न किया जा सके, तो संभव है कि लोग उसके थोड़े-बहुत आदी भी हो जायँ। फिर भी इसमें शक नहीं कि हर हालत में इस पद्धति का अन्त कभी-न-कभी होता ही है। (५) सहयोग स्वेच्छापूर्वक किया जाने पर भी अगर ज्ञानपूर्वक न किया गया हो केवल मूढ़ हो तो वह जनता में बुद्धिभेद होने तक ही टिकेगा।

(इ) समर्थों का धुरीणत्व: शासन या संचालन हमेशा समर्थ व्यक्ति ही करते रहेंगे। लेकिन (१) अगर वे चुने हुए हों तो उनका टिकना उनकी उपक्रम-शक्ति पर निर्भर रहेगा। (२) अगर नियुक्त हों तो वे तभी तक कायम रहेंगे, जब तक जनता समर्थ नहीं होती या उन व्यक्तियों की आपस में फूट नहीं होती। (३) अगर वे स्वतः उभरे हुए हों तो उतने भाग में अधिक दिन टिकेंगे। लेकिन जनता के आधार के अभाव में समर्थ व्यक्तियों की एकता अधिक दिन नहीं ठहरती। समर्थों में अक्सर अपनी सामर्थ्य के कारण पारस्परिक स्पर्धा हो जाती है।

(ई) प्रमाणभूत व्यक्ति: (१) अगर स्वयंभू हो तो यह शासन-पद्धति तभी तक रहेगी जब तक कि उस व्यक्ति का उसके पराक्रम और प्रभाव का अन्त नहीं हो जाता। (२) अगर निर्वाचित हो तो निर्वाचन का अधिकार जिनका

व्यापक व्यवस्थित और सुदृढ़ होगा, उतना ही कम या अधिक वह टिक पायेगा।

महत्त्व का मुद्दा : सार्वराष्ट्रीय अविरोध या भ्रातृभाव

(१४) राजनैतिक पद्धतियों का विचार करते हुए उपर्युक्त बातों के अलावा दूसरी भी एक बहुत महत्त्व की बात पर ध्यान देना पड़ता है। वह यह कि राष्ट्र की अन्तर्गत व्यवस्था के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों से उसका व्यवहार कहाँ तक अविरोधी है। पुराने जमाने में, जब कि यातायात के साधन इतने वेगवान् नहीं थे, तब भी यह प्रश्न कम महत्त्व न रखता था। आज तो सार्वराष्ट्रीय अविरोधी ही नहीं वरन् अनुकूलता और भ्रातृभाव किसी भी राष्ट्र या राष्ट्र-समूह के व्यवहार का मानदण्ड माना जाना चाहिए।

राज्य-पद्धति का आदर्श

(१५) इस सारी चर्चा के सार-रूप में अब हम राज्य-पद्धति की कसौटी के कुछ तत्त्व यहाँ दे रहे हैं

(अ) सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव

(आ) राष्ट्र के सब अंगों का ज्ञानपूर्वक यथाशक्ति, पर स्वयंस्फूर्त और हार्दिक सहकार,

( ) समस्त अल्पसंख्यकों और सर्वसाधारण बहुसंख्यकों का हितैक्य,

( ) सबके सर्वांगीण और समान विकास की दृष्टि,

(उ) राज्य सत्ता का व्यापकतम विभाजन

(ऊ) अल्पतमशासन

(ए) सुलभतम तंत्र

(ऐ) न्यूनतम व्यय

(ओ) कम से कम दण्डशक्ति और

(औ) मानसिक अध्यापन एवं तटस्थ या मुक्त ज्ञान-प्रचार।

२

नाज़ी फासिस्ट और रूसी वादों के स्वरूप

(१) अब हम अपने इस प्रश्न पर आ सकते हैं। नाज़ी और फासिस्ट

बातों में इतना ही फर्क मालूम होता है कि नाज़ीवाद अधिक संगठित और समाज के अधिक अंश को स्पर्श करता है। इससे अधिक फर्क इन दोनों पद्धतियों में दिखाई नहीं पड़ता। वंशाभिमान दोनों में समान है। दोनों ने इंग्लैंड को अपना गुरु बनाकर उससे राज्य-विस्तार की तृष्णा पायी है। दोनों का सैनिक शक्ति पर विश्वास है। पुर्तगाल, स्पेन, हॉलैंड, इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों ने जिस पद्धति से संसारभर में छा जाने का प्रयत्न किया उसीका अनुसरण ये भी कर रहे हैं। दोनों पद्धतियों के विषय में आज का उपलब्ध साहित्य पढ़ने से जो राय कायम होगी, पन्द्रह दिन के बाद निकली हुई पुस्तकें पढ़ने पर उसे बदलने की भी नौबत आ जायगी।

इसके विपरीत रूस में साम्यवाद या समाजवाद के नाम से एक प्रयोग शुरू हुआ है। उसकी मूल कल्पना विश्वव्यापक की गयी थी, लेकिन वह न टिक सकी और बाद में उसे राष्ट्रगत स्वरूप प्राप्त हो गया है। सैनिक शक्ति पर उनका उतना ही विश्वास है जितना औरों का। अगर आज तैयारी में कुछ पिछड़े हुए हों तो भी कल आगे बढ़ जायँगे। अपना मतलब साधने के लिए तत्त्वहीन दाँव-पेंचों से किसीको भी परहेज नहीं है। व्यापार दूसरों ने पहले ही हथिया लिया और देश में जमीन भरपूर है इसलिए वह खेती की योजनाएँ अधिक बनाता है। लेकिन यह फर्क मूलभूत नहीं परिस्थिति के कारण ही हुआ है।

रूस की क्रान्ति बीस वर्ष की अल्प अवधि में ही इतनी नीरस हो गयी कि उसका असली आकर्षक स्वरूप प्राप्त हो ही नहीं पाया। इसका कारण यह है कि केन्द्रीकरण धन-पूजा राष्ट्रनिष्ठा और शोषण—पूँजीवाद की इन चार बातों में से तीन को कायम रखते हुए चौथी को टालने का प्रयत्न साम्यवाद कर रहा है। अर्थात् यह एक मोह-जाल है। यह समझना मुश्किल नहीं रहता कि पहली तीन बातों के साथ चौथी, टालने पर भी बरबस आ ही जाती है। फिर भी केन्द्रीकरण से प्राप्त क्षमता धन-पूजा की बदौलत मिला आराम और राष्ट्रनिष्ठा से मिलनेवाला रक्षा का आश्वासन—इन तीनों का आकर्षण इतना जबरदस्त है कि शोषण बन्द करने के लिए उनमें से एक का भी त्याग करने की कल्पना मात्र भी ऐसे आरामतलब चित्त को नहीं जँचती।

नाज़ीवाद और फासिस्टवाद की अपेक्षा रूसी 'वाद'—उसे कुछ भी नाम दिया जा सके—सद्हेतुमूलक प्रतीत होता है। लेकिन तीनों एक-से भ्रामक हैं। इसलिए सबका हित तो दूर, बहुसंख्यकों का हित भी साधने में तीनों करीब एक-से असमर्थ ठहरे हैं।

तीनों वादों की तुलना और उनके मूलभाव

(१०) जब तक कोई पद्धति निर्माण की अवस्था में हो और परिवर्तन पा रही हो तब तक उसके गुण-दोषों की तुलना या चर्चा भ्रामक हो सकती है। उदाहरणार्थ सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव की कसौटी की दृष्टि से विचार किया जाय तो इटली या जर्मनी की वर्तमान विचारधारा में वह बिलकुल ही दिखाई नहीं पड़ती। इसके विपरीत रूस के साम्यवादी तत्त्वज्ञान में उसका स्थान होना चाहिए। लेकिन साम्यवाद का एक सिद्धान्त यह माना जाता है कि "साम्यवाद की विचारधारा जब तक सारे संसार में नहीं फैलती तब तक किसी भी एक देश में वह स्थायी नहीं हो सकेगी।" इसके अलावा साम्यवाद के प्रचार साधनों में हिंसा वर्ज्य नहीं मानी जाती। इसलिए केवल प्रचार की सुविधा के लिए समय होने पर रूस दूसरे किसी भी राष्ट्र पर आक्रमण कर सकता है भले ही उस राष्ट्र ने रूस का कुछ भी न बिगाड़ा हो। जब तक इस तरह के आक्रमण का अवसर नहीं मिलता तब तक सार्वराष्ट्रीय भ्रातृभाव कम-से-कम पुस्तकों में तो रह सकेगा। बाद में तो वहाँ से भी उसका उच्चाटन हो जायगा। भक्तों की धारणा है कि रामचन्द्रजी के बाण से जो-जो मरे, उनको मुक्ति मिली। साम्यवाद के भोले भक्त भी कई बार यह कहते पाये जाते हैं कि रूस का आक्रमण जिस किस राष्ट्र पर होगा वह उस राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होगा। यदि हम सारी विचारधारा पर ध्यान दिया जाय तो यह कहना मुश्किल है कि जर्मनी और इटली की अपेक्षा रूस राष्ट्रीय भ्रातृभाव की कसौटी पर अधिक खरा उतरेगा।

इसी प्रकार कसौटी का अन्तिम मुद्दा याने भाषण-प्रचार की स्वतन्त्रता न केवल युद्ध काल में वरन् और समय में भी रूस और जर्मनी में एक-सी अनुपलब्ध है। रक्षावादों के मुद्दे के बारे में भी वही बात है। उनका रक्षा-साधन हिंसा ही होने के कारण जो रक्षावादों पर अधिक से अधिक खर्च करेगा उसीको

बुद्धिमान् कहने की नौबत आ गयी है। रूस की विचार-प्रणाली में ध्येयवाद का जो तत्व है वह नाज़ी और फासिस्ट विचार-प्रणाली में नहीं पाया जाता। लेकिन उनकी जगह राष्ट्रभक्ति और स्वत्व का अभिमान वहाँ प्रेरणाप्रद होता दिखाई देता है।

रूस के ध्येयवाद में बहुजनसमाज के हित की जो दृष्टि निहित है वह वस्तुतः सर्वोदय के प्रतिकूल नहीं। वस्तुतः बहुजनसमाज के हित में ही दूसरे सब लोगों के हित सुरक्षित रह सकते हैं। इसी हितैक्यदृष्टि के आधार पर रूस में वर्तमान क्रान्ति की अपेक्षा अधिक स्थायी क्रान्ति हो सकती थी। लेकिन वहाँ हितैक्यदृष्टि की अपेक्षा हित-विरोध की दृष्टि ही अधिक प्रभावशाली तथा शीघ्र फलदायी मानी गयी और उसीका अवलम्बन किया गया। फलतः काम शीघ्र हुआ-सा जान पड़ा लेकिन बाद में उसीको सँभालते-सँभालते राष्ट्राभिमान की नींव पर खड़ा करना पड़ा।

जनता को समन्वययुक्त और विवेकशील दृष्टि सिखाने के बदले ज़ोरदार मालूम पड़नेवाली आवेशपूर्ण दृष्टि सिखाने का मोह अल्पतोष नेता रोक नहीं सकते। रूस का बहुजन-हितवाद और जर्मनी का राष्ट्रसंगठनवाद इसके उदाहरण हैं। जहाँ जर्मन नेताओं को यह मोह रहा कि वंशाभिमान जाग्रत किये बिना शायद राष्ट्र-संगठन शीघ्र न हो वहीं रूसी नेताओं को यह था कि वर्गविरोध की भूमिका बनाये बिना क्रान्ति द्रुतगति से न होगी।

मैज़िनी के इटली की दुरवस्था

(१८) जोसेफ मैज़िनी की दृष्टि से इटली की स्थिति पर दृष्टि डाली जाय तो एक बिलकुल अजीब-सा दृश्य दिखाई देता है। मैज़िनी सिद्धों का भक्त तो है लेकिन सिद्धों आत्मौपम्य के सिद्धान्त को स्वतन्त्रता की बुनियाद मानकर चलता था। मैज़िनी का यह अपर्याप्त प्रतीत होता है। इसलिए यह ईश्वर के पितृत्व के आधार पर सार्वभौम भ्रातृभाव का प्रतिपादन करता है। उसके जीते जी इटली की मिल की राज्य-सत्ता नहीं होती है। जनता तो परकीय सत्ता गिर जाने के आनन्द में डूबी हुई है। फिर भी मैज़िनी अपने ध्येय के यहाँ-से वहाँ तक हो जाने से खिन्न रहा है। अब उस राज्य सत्ता का रूप इटलीकर धनिक-वर्ग की सत्ता एक व्यक्ति में केन्द्रित हो गयी है।

क्षत्रिय-वर्ग जब-जब धर्म के नाते आगे आता है, तब-तब वह जनता के हित के नाम पर ही आता है। यह शासक-वर्ग अपने को ईश्वर की रक्षक-शक्ति का वारिस मानता है। मर्यादाभिमान तो उसमें होता ही है। इसलिए दीनरक्षित्व के लिए आवश्यक बोध स्वभाव उसे सहज ही उपलब्ध होता है। यह शासक-वर्ग अगर गृह-कलह या बाह्य आक्रमण से परास्त हो जाय तो जनता क्षणभर के लिए उस पर तरस खाती और फिर अपने नित्य व्यवहार में लग जाती है।

समाजवाद अधिक रोचक और संशोधनक्षम

(१९) अब इन तीन वादों में श्रेष्ठ-कनिष्ठ किसको और कैसे ठहराया जाय यह एक समस्या ही है। जनता जब किसी पुरानी व्यवस्था से तंग आ जाती है तो पुरानी व्यवस्था को तोड़ उसकी जगह लेनेवाली चाहे जिस नयी व्यवस्था को पसन्द कर लेती है। उसमें आनन्द का प्रधान विषय यही होता है कि पुरानी व्यवस्था चली गयी। पेशवा-शाही के बाद एलफिन्स्टन साहब की अमलदारी शुरू हुई और कानून से नियमित राज्य-सत्ता जारी हुई। मालूम होता है, इसकी खुशी उस जमाने के मराठों को थी। लेकिन पचास साल के भीतर ही यह खुशी गायब हो गयी और असन्तोष की हवा बहने लगी। यह नहीं कहा जा सकता कि एलफिन्स्टन की अमलदारी में मराठा जिस आनन्द में मशगूल था वह आनन्द सर्वथा मिथ्या था। लेकिन आज उस तरह का आनन्द हमें फुसलायेगा नहीं।

हिन्दुस्तान की आज की स्थिति में इन वादों को यहाँ कुछ-न-कुछ स्थान मिल ही सकता है। गरीबी तो हमारी चिरसाथिन है और हमारे परम्परागत समाज को आत्माभिमान भी [illegible] प्रतीत हो सकता है। इसलिए गरीबों से हमदर्दी रखनेवाले साम्यवादी [illegible] और जाति-अभिमान का संगठन करने की इच्छा रखनेवाले [illegible] इस समय भारतवर्ष में पैदा हो गये हैं। [illegible] हिन्दुस्तान की स्थिति में [illegible] न करते हुए केवल तटस्थ वृत्ति से विचार [illegible] निष्पक्ष को साम्यवाद जितना [illegible] उसमें जिस तरह सुधार [illegible] भिन्न-धर्म नामी या धार्मिक [illegible]

●●●

तीसरा प्रश्न

प्रश्न : अगर प्रचलित पद्धतियों को सदोष करार दिया जाय तो निर्दोष पद्धतियों का स्वरूप कैसा होना चाहिए।

१

निर्दोष पद्धतियों का चतुर्विध लक्षण

उत्तर : (१) किसी भी पद्धति विशेष का आग्रह न रखते हुए, समय समय पर पद्धति का बदलते रहना ही सर्वोत्तम पद्धति समझनी चाहिए। पद्धति ऐसा कोई स्थापित तत्त्व नहीं जिसके आधार पर जीवन का निर्माण किया जा सके। अक्सर किसी एक पद्धति से तंग आया हुआ मनुष्य दूसरी पद्धति की तलाश में रहता है। लेकिन जिन विशेष गुणों या दोषों के कारण लाभ या हानि होती है उनकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। बाल-विवाह से तंग समाज प्रौढ़-विवाह की तरफ मुड़ता है और प्रौढ़-विवाह से तंग आकर बाल-विवाह पर भी आ सकता है। वास्तव में तारक तत्त्व संयम है। विवाह की उम्र निर्धारित कर देनेभर से ही बेड़ा पार नहीं हो जाता। उसका कारबार तथा व्यवस्थायें इनकी सूक्ष्म पद्धति तत्तत् समाज के विकास की अवस्था पर निर्भर रहेगी। पर इन सारी पद्धतियों में कम-से-कम नीचे लिखी चार चीजें तो अनिवार्य-रूप से रहनी ही।

(१) सबकी सामर्थ्य जन-सेवा के लिए समर्पित हो।

(२) जनता पूरी तरह स्वावलम्बी और पारस्परिक सहयोग करनेवाली हो।

(३) नित्य के सहयोग और प्रासंगिक असहयोग या प्रतिकार का अधिष्ठान अहिंसा ही हो।

(४) सबके प्रामाणिक परिश्रम की कीमत (नैतिक और आर्थिक) समान हो।

अब उपर्युक्त बातों में से हरएक का थोड़ा विवेचन करें।

लोकमत समर्थों को जनता की सेवा में लगाये

(२१) 'समर्थ' से मतलब है सामान्यतः अधिक बुद्धिशाली और अधिक शक्तिशाली व्यक्ति। यह भेद प्राणि-शास्त्र का ही किया हुआ है और विज्ञान तो उसके निराकरण की कोई गुंजाइश नहीं दीखती। लेकिन साथ ही आज सम्पत्ति आदि साधनों की बदौलत समर्थ बना हुआ भी एक वर्ग है। पहले दो वर्ग स्वाभाविक हैं तो यह तीसरा औपाधिक। इन तीनों में विद्यमान विविध सामर्थ्य उन्हें जनता की सेवा के लिए ही निसर्ग और परिस्थिति द्वारा प्राप्त है, इस बात का उनमें और जनता में निरन्तर भान जाग्रत रहना चाहिए। यह सामर्थ्य जनता की सेवा के लिए अवश्य अर्पित हो, इस तरह कालानुसार प्रबन्ध करनेवाली राज्य-पद्धति होनी चाहिए। बुद्धि का उपयोग है लोक-जीवन को ज्ञानमय बनाने के लिए, शक्ति का उपयोग लोकहितार्थ पराक्रम करने के लिए और सम्पत्ति का उपयोग है उचित रीति से समूचे समाज-शरीर में उत्पादन-शक्ति का प्रवाहशील और समान रूप से वितरण करने के लिए। समर्थ व्यक्ति अगर समाज को अपनी शक्तियों का इस तरह उपयोग न दें तो ऐसा लोकमत होना चाहिए कि राज्य प्रणाली के सिद्धान्तों के अनुसार वे अपराधी ठहराये जायँ।

लोकमतानुसारी पद्धति में अनुशासन अन्तर्भूत

होता है। यही सहज लोकमत कानून या अनुशासन का आधार होता है और उसका आदर सर्वसाधारण जनता सदैव किया करती है। थोड़े-से जो भ्रान्त मति बाकी रह जाते हैं उनको फौज वगैरह के हवाले न करके थोड़े-से विद्वान महापुरुषों से ही उन्हें सिखवा देना चाहिए। अर्थात् जिन्हें कानून की परवाह नहीं है, उन्हें कानून की जरूरत न रखनेवालों के हवाले कर सर्वसाधारण समाज कानून के अनुसार चले।

कृपण भी चोर के समान अनुशासनीय

(२३) आज लोकमत को चोर मान्य नहीं है। यही हाल कदर्य या कृपण का भी होना चाहिए। यानी आज जिस प्रकार चोर अनुशासनीय है उसी प्रकार सूम भी कानून से अनुशासनीय होना चाहिए अर्थात् लोकमत इसके अनुकूल होना चाहिए। सब माँ-बाप अपने बच्चों को बचपन से ही यह शिक्षा देते हैं कि बिना माँगे कोई चीज हथिया लेना भारी गुनाह है। इसी प्रकार जिसे जरूरत हो उसे माँगने पर न देना भी शिक्षण-शास्त्र नैतिक दोष माने। यह विचार नया नहीं, लेकिन एक सर्वसाधारण सिद्धान्त के रूप में अब तक उसका अमल नहीं हुआ है। उपनिषद् का राजा अश्वपति अपने राज्य की महिमा का वर्णन करते हुए एक ही वाक्य में कहता है

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो।

(यानी मेरे राज्य में न तो चोर है न कंजूस) अर्थात् वह दोनों को एक ही पंक्ति में बैठाता और इस तरह संकेत करता है कि कृपण चोरों के जनक तथा चोर उनके उत्तराधिकारी पुत्र हैं। इस विचारधारा को कानून में शामिल कर देना कुछ भी कठिन नहीं।

सम्पत्ति के प्रयोजन

(२४) सम्पत्तिमानों की सम्पत्ति छीन लेने की बात निकल ही कही जाती है। वस्तुतः सम्पत्तिमान् सम्पत्ति केवल संचय के लिए नहीं रखना चाहते। उन्हें तो प्रतिष्ठा, सुख, भावी जीवन का आश्वासन, सन्तान का पालन-पोषण और धार्मिकता की प्राप्ति, इनमें से कुछ या सबकी अभिलाषा होती है। अगर कोई ऐसी युक्ति हाथ लग जाय जिसके जरिये से सब चीजें मिलने की निश्चित

हो और ऊपर से निश्चिन्त भी रहा जा सके, तो उस पर किसीको एतराज न होगा। आज भी सम्पत्तिमानों की सम्पत्ति कई कारभारियों, मुनीमों और उसी तरह के दूसरे लोगों में बँटी ही रहती है। इसके सिवा उनकी सम्पत्ति के विनियोग का कोई रास्ता ही नहीं। मुनीमों के हाथों में सम्पत्ति सौंपकर, मुनीम धोखा तो देते हैं फिर भी ज्यादा धोखा नहीं देते, इस तरह की चिन्ता और सन्तोष से उन्हें जीवन बिताना पड़ता है। इसके बदले राज्य-पद्धति ऐसे समर्थों को यह विश्वास दे कि उनका यह पैसा समाज के कामों में लग रहा है, चिन्ता की जगह उन्हें लोकोपयोगी चिन्तन का काम मिल रहा है; साथ ही इसके बदले में प्रतिष्ठादि सारी चीजें पहले से भी बहुत अधिक मात्रा और वास्तविक रूप में उन्हें मिल रही हैं।

सम्पत्ति देने से दूनी होती है

(१९) कार्यों में यह कहावत रूढ़ है कि विद्या देने से दुगुनी होती है। इस बारे में सम्पत्ति में और विद्या के स्वभावों में विरोध माना जाता है। लेकिन यह वास्तविक नहीं है। सम्पत्ति भी देने से दूनी हुआ करती है। अर्थशास्त्र में इसीको 'जनता की क्रयशक्ति का बढ़ना' कहते हैं। साहूकार कर्जदार को भरपूर धन देता है उसमें वह अपनी सम्पत्ति की वृद्धि देखता है। उससे भी अधिक वृद्धि सम्पत्ति के विभाजन से होती है यह बात समझना बिलकुल मुश्किल नहीं। किन्तु तदनुकूल समाज-रचना करनी पड़ती है। इस तरह की समाज-रचना आदर्श राज्य-पद्धति में मान्य है। समाज व्यक्ति का बैंक है। व्यक्ति का पैसा किसी भी बैंक में जितना सुरक्षित रह सकता है, उससे कहीं अधिक सुरक्षित समाजरूपी बैंक में रहेगा।

मानवीय संतोष धन में पर हक की भावना ही बाधक

(२०) असमर्थों की सेवा करने में ही समर्थों की सामर्थ्य की शोभा है। मानवीय सन्तोष भी उसीमें है। चूँकि मनुष्य समाजप्रिय है उसे अकेले उपभोग करने में दूसरों को अपने भोग में हिस्सेदार बनाये बिना कभी सन्तोष नहीं होता। फिर भी यह सच है कि आज धनवान् अपने आसपास अधभूखे लोगों को जानते और देखते हुए भी अपने [illegible] में आनन्द के आभास का अनुभव करते पाये जाते हैं। पूछा जा सकता है कि मनुष्य-स्वभाव के प्रतिकूल यह प्रवृत्ति जीवित कैसे रह पाती है? तो इसका जवाब यह नहीं कि सिर्फ धनवान् लोग ही [illegible] हैं। समाज में जो यह अर्धसत्य और अर्धमिथ्या मान्यता रूढ़ है कि हर व्यक्ति अपनी कमाई का जिम्मेदार और हकदार है उसीका यह परिणाम है। सबको यथाशक्ति कमाई अवश्य करनी चाहिए। जो शक्ति होते हुए भी कमाई नहीं करता वह हकदार नहीं हो सकता। लेकिन यह पूर्ण सत्य है कि यथाशक्ति कमाई करनेवाला कोई भी व्यक्ति सम्मिलित कमाई का समान हकदार है। अगर मनुष्यों की शक्तियों में भेद न होता तो उनकी कमाई की विषमता उनकी कमाई की न्यूनाधिकता का द्योतक होती। इस हालत में यह कहना यथार्थ होता कि [illegible]

हकदार है। लेकिन जब कि शक्ति-वैषम्य प्रत्यक्ष है, तब व्यक्तिगत जिम्मेदारी के तत्त्व का हिसाब त्रैराशिक की रीति से लगाना गलत गणित करना है।

कुटुम्बगत आर्थिक व्यवस्था समाज पर लागू करें

(२८) परिवार में जो आर्थिक व्यवस्था थोड़े-बहुत अंश में सर्वत्र पायी जाती है, उसे सारे समाज पर लागू करने के लिए ही जो कि कुटुम्ब की शक्ति से परे की बात है राज्य व्यवस्था है। अगर राज्य-व्यवस्था यह कार्य न करे, तो उसकी वास्तव में आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस कार्य को करने के बजाय राज्य-व्यवस्था यदि वैषम्य का ही निर्माण करती हो तो उसे नष्ट कर अराजकता मंजूर करना ही धर्म होगा। अपनी चाहे जैसी कुराज्य-व्यवस्था को भी लोगों के गले उतारने के लिए राज्य-व्यवस्थापकों ने अराजकता का बहुत बड़ा हौआ चारों तरफ पैदा रखा है।

समर्थों को हम समर्थ मानते हैं लेकिन असमर्थ मानी गयी जनता की सहायता के बिना उनका काम किसी हालत में नहीं चल सकता। इस अर्थ में वे असमर्थ ही सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत जिन्हें हम असमर्थ कहते हैं, उनमें भी उनकी अपनी विशेष सामर्थ्य होती ही है। उसके बिना राज्य-सत्ता भी चल नहीं सकती। भावार्थ यह कि दोनों एक-दूसरे की मदद के बिना असमर्थ और एक-दूसरे की मदद से समर्थ सिद्ध होते हैं। शास्त्र-कार जिसे 'अन्ध-पंगु-न्याय' कहते हैं उस तरह का यह मामला है। जिस राज्य-व्यवस्था में समर्थों को इतना समझ सकने की भी बुद्धि न हो कि इन दोनों के मिलने से पारस्परिक हित है, वह राज्य व्यवस्था वास्तविक राज्य-व्यवस्था ही नहीं अराजकता से भी बढ़कर अराजकता है। थोड़े में भावार्थ यह है कि राज्य-व्यवस्था का अधिकार समर्थों के सुपुर्द भले ही किया जाय लेकिन वह केवल जनता की सेवा का ही हो।

संघ करने के लिए और जनता के परस्पर सहयोग को दृढ़ करने के लिए भी ग्रामोद्योगों के समान दूसरी कोई सहज सुगम और समर्थ योजना नहीं है।

साम्यवादियों की योजना खतरे की

(   ) पहले सम्पत्ति एक जगह इकट्ठा करना और बाद में उसे बराबर बाँट देना इस तरह की दूसरी एक योजना साम्यवादी पेश करते हैं। लेकिन उसमें तिहरा खतरा है। एक तो यह कि उत्पत्ति के साथ सहज ही सम्पत्ति का समान बँटवारा करने की इकहरी योजना की अपेक्षा पहले सम्पत्ति एक जगह इकट्ठा कर फिर उसका समान विभाजन करने की दोहरी प्रक्रिया आर्थिक दृष्टि से ज्यादा महँगी पड़ेगी, यह पहला खतरा है। इस एकत्र सम्पत्ति की रक्षा के लिए अलग प्रबन्ध करना होगा और फिर भी वह आसानी से विरोधी आक्रमण का शिकार हो सकेगी यह दूसरा खतरा है। इसके अलावा उसकी बदौलत समाज-रचना इतनी व्यामिश्र अथवा जटिल या अन्योन्याश्रयी हो जायगी कि सारा का सारा यन्त्र किसी दिन एक अतिभार के कारण एकदम बैठ जायगा, इसका कोई ठिकाना नहीं यह तीसरा खतरा है।

अन्योन्यावलम्बन सरल हो व्यामिश्र नहीं

(   ) अन्योन्यावलम्बन है तो बहुत अच्छी चीज, लेकिन वह स्वतन्त्र या स्वावलम्बी इकाइयों के बीच होना चाहिए। परावलम्बी इकाइयों का अन्योन्यावलम्बन उसी ढंग का होता है जैसा कि गाड़ी में जोते हुए दो दुर्बल बैलों का अपना अपना बोझ एक दूसरे पर डालकर गाड़ी खींचने की कोशिश करना। तिपाई तीन पैर पर खड़ी होती है। तीनों पैरों में पारस्परिक सहयोग होता है लेकिन तीनों पैर अपने-अपने बल पर खड़े हैं। यह सीधी-सादी रचना है। कोई एक पैर टूट जाय तो सिर्फ उसी एक को दुरुस्त करना पड़ेगा। लेकिन जब एक पहिये के भीतर दूसरा और दूसरे के भीतर तीसरा, इस तरह पहियों के सिलसिले का कोई यन्त्र बनता है तब वह 'व्यामिश्र' कहलाता है। उसमें एक पहिया टूटते ही वह दूसरे को धक्का लगाकर सारे यन्त्र को ही रोक देगा और उसकी मरम्मत सादे यन्त्र की अपेक्षा बहुत ही मुश्किल होगी। इसके अलावा यन्त्र चालू रहते समय भी व्यामिश्र यन्त्र में घर्षण-स्थान कई होंगे और इसलिए काम भी उतना कम होगा।

स्वयंपूर्ण राज्यसंस्था और मानवता की विशाल कल्पना

(१२) सम्पत्ति इकट्ठा कर बाँटने की सारी योजनाएँ राज्यव्यवस्था पर बहुत दबाव डालती हैं और अन्ततः वे छिन्नभिन्न हो जाती हैं। इसलिए, याने अगर हम हिंसा का आश्रय राज्यसत्ता पर पड़नेवाला तनाव और समाज रचना की निश्चलता टालना चाहें, तो हरएक देहाती किसान को अपना बादशाह होना चाहिए और ग्रामीणों का सहयोग बँटी हुई रस्सी की तरह पक्का होना चाहिए। तब यह किसान और उसका गाँव मिलाकर एक सहज और करीब-करीब स्वयंपूर्ण राज्यसंस्था हो जायगी।

जो इस प्रकार स्वायत्त ग्रामों का संगठन करती है वह है निमित्तमात्र प्रान्तीय सत्ता। ऐसे प्रान्तों का जो संगठन करती है, वह है निमित्तमात्र राष्ट्रीय सत्ता। ऐसे स्वायत्त राष्ट्रों के परस्पर सहयोग का जो संगठन करती है वह है निमित्तमात्र अखिल मानव-सत्ता। इस अखिल मानव-सत्ता में, जिसे हमने निमित्तमात्र कहा है संसार के रागद्वेष-रहित प्राज्ञ और प्रातिनिधिक व्यक्तियों की परिषद् होगी। इस परिषद् के पास यथाशक्ति धर्म्य और नैतिक नियमन-शक्ति पूरी-पूरी होगी। मानवों को मानवता की ऐसी विशाल कल्पना रखनी है। राज-नीतिज्ञों की यह राय ठीक ही है कि केन्द्रीय सत्ता अगर प्रबल शक्तिशाली न हो तो काम न चलेगा। लेकिन प्रबल शक्ति का मतलब प्रज्ञा और नीतिमत्ता है न कि चेतनहीन शस्त्रास्त्र या अस्त्र-शस्त्रादिबल। स्पष्ट है कि जब तक जनता स्वावलम्बी और सहकारी न होगी तब तक इस तरह की मानवता की रचना नहीं बन सकती।

२

राज्यव्यवस्था सर्वथा मानवसापेक्ष

(१३) राज्यव्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, प्रत्यक्ष व्यवहार में उसकी सफलता किसी-न-किसी अंश में उन व्यक्तियों की योग्यता और सज्जनता या असज्जनता पर ही आधृत है जिन्हें समाज की ओर से शासन-सूत्र सौंपे गये हों। साधारणतः अच्छे आदमी ही अमुक चुने जायँ ऐसी योजना करना उत्तम राज्यपद्धति का एक धर्म और लक्षण है। लेकिन इसके बावजूद व्यक्ति का

जब तक हम उसे नहीं बदलते तब तक हमें व्यक्तिशः वह पसन्द न होने पर भी नीति-नियमों के विरुद्ध न हो तो हम स्वेच्छा से, आनन्दपूर्वक तथा खुले दिल से उसका पालन करते रहेंगे। जिनका मतविरोध नहीं, उनके सहकार का कोई महत्त्व ही नहीं। लेकिन जिनका मतविरोध हो, उनकी वृत्ति सहकार करते समय यदि उपर्युक्त प्रकार की हो, तो वह सहकार अहिंसक कहलायेगा। जो व्यक्ति इस तरह का सहकार नित्य करता है, उसीको यथावसर आवश्यक असहकार और प्रतिकार करने का अधिकार होता है। ऐसे ही व्यक्ति अहिंसक प्रतिकार करने की सामर्थ्य रखते और उन्हींका यह कर्तव्य भी होता है।

जनता के लिए असहकार और प्रतिकार की शिक्षा आवश्यक

(१६) जिस प्रकार जनता के शिक्षण या विचार-जागृति का एक पहलू यह है कि जहाँ तक संभव हो लोग सहकार ही करें और उसे स्वेच्छा से तथा समझ-बूझकर करें, उसी प्रकार जनता के शिक्षण या विचार-जागृति का दूसरा पहलू यह है कि वह असहकार और प्रतिकार के अवसर को पहचाने और वैसा अवसर आने पर सविनय असहकार और प्रतिकार करे।

असहकार और प्रतिकार एक ही वस्तु की दो अवस्थाएँ हैं। पहली की अपेक्षा दूसरी अधिक उग्र है। जहाँ असहकार से ही काम चल सके, वहाँ प्रतिकार करना नहीं होता। असहकार में हम अपना सहकार का हाथ हटा लेते हैं और प्रतिपक्षी को परिस्थिति में सुधार करने का मौका देते हैं। इतने से जब काम होता नहीं जान पड़ता तब राज्य का कानून (१) विनयपूर्वक यानी शिष्ट मर्यादा में रहकर, (२) व्यवस्थित रूप से यानी कहीं भी अनुशासन भंग न होने देते हुए, (३) प्रकट रूप से यानी कुछ भी गुप्त न रखते हुए तथा छल-प्रपंच के बिना और (४) दृढ़ता से यानी कार्यविषयक प्रश्न के बारे में कम-से-कम माँग पेश कर और जब तक वह पूरी न हो तब तक हार न मानते हुए, भंग करना पड़ता है। इस तरह के कानून भंग के लिए जो सजा हो उसे खुशी से और बगैर द्वेषभाव के भुगत लेना पड़ता है। इस तरह की शिक्षा जनता के जीवन में रमी होनी चाहिए और इसके लिए शिक्षण तथा राजकीय नीतिशास्त्र में उसका निश्चित स्थान होना चाहिए।

समाज जीवन में असहकार का स्थान नित्य

(२७) सुराज्य-व्यवस्था में असहकार और प्रतिकार प्रासंगिक और नैमित्तिक होते हुए भी समाज-जीवन में उनका नित्य स्थान है। क्योंकि उनकी जरूरत केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं होती, अपितु समाज-नीति, कुटुम्ब-नीति और व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में भी उनके प्रयोग की थोड़ी-बहुत आवश्यकता रहेगी। प्रतिकार न करते हुए निष्क्रिय होकर अन्याय सह लेना या [illegible] सक्रियता के आवेश में होकर समाज मुकाबला—या [illegible] भी—हिंसात्मक प्रतिकार करना, ये दोनों मार्ग छोड़कर सविनय असहकार और प्रतिकार का बीचवाला मार्ग ही एकमात्र राजमार्ग है। राज्यव्यवस्था कैसी भी क्यों न हो, जरूरत होने पर इस मार्ग का अवलम्बन करने की वृत्ति और शक्ति समाज के नीतिशास्त्र में व्याप्त होनी चाहिए।

असहकार की तालीम की दिशा : यमनियम-विवेक

(२८) इसके लिए छोटे-मोटे नियमों के बारे में भी बचपन से बालकों का शिक्षण होना चाहिए। माँ-बाप की आज्ञा नम्रतापूर्वक माननी चाहिए, इस शिक्षा के साथ माँ-बाप को ही अपने बालकों को यह भी शिक्षा देनी चाहिए कि अगर यह आज्ञा विवेक-बुद्धि को जँचने लायक न हो, तो उसे वह सविनय मना करे। यह तो एक उदाहरण दिया। दूसरे भी स्थूल नियमों के विषय में शिक्षण इसी तरह का होना चाहिए।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।

(समझदार आदमी यमों का यानी सत्य-अहिंसादि शाश्वत धर्मों का नित्य पालन करे। नियमों के नित्य पालन की अपेक्षा नहीं।) मनु के इस वचन का यही अर्थ है। नियम चाहे वे कौटुम्बिक, सामाजिक या राष्ट्रीय किसी प्रकार के क्यों न हों, जब तक वे सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं होते, तब तक उनका पालन अवश्य करना चाहिए। किन्तु जहाँ इनका सिद्धान्तों से विरोध उपस्थित हो, वहाँ उनका सविनय त्याग करना चाहिए।

सुव्यवस्था में नियम साधारणतः नित्य सिद्धान्तों के अविरोधी स्वरूप में ही [illegible] कि उसमें थोड़ा-बहुत

स्वत पैदा होने की सम्भावना सदा रहती है। एक बार आदर्श राज्यव्यवस्था कायम कर दी जाय तो वह व्यवस्था ही जनता को सँभाल लेगी और सुख पहुँचाती रहेगी, जनता खुशी से नींद लेती रहे या आँख मींचकर चलती रहे—यह नहीं हो सकता। थोड़ी देर के लिए ऐसा सम्भव मान भी लें तो उसमें मनुष्य का विकास न होगा और इसीलिए ईश्वर-कृपा से यह सब न सधेगा।

सारांश यह कि, असहकार और प्रतिकार की मर्यादाएँ ध्यान में रखकर उनका विवेकपूर्वक यथावसर प्रयोग कर सकने लायक जनता का जाग्रत होना या रहना उत्तम राज्य-व्यवस्था का अंग ही समझना चाहिए।

हिन्दुस्तान में अहिंसा की ऐतिहासिकता

(१) हिन्दुस्तान जैसे अनेक जमातों, अनेक धर्मों, अनेक भाषाओं, विशाल जनसंख्या और विशाल क्षेत्रफल के किसी देश को सामने रखकर उसकी दृष्टि से किसी प्रश्न का समाधान करना मानो अपनी सारी दुनिया का सवाल हल करने जैसा ही है। मानना होगा कि जिस समय आवागमन के वर्तमान साधनों का आविष्कार नहीं हुआ था उस समय जिन्होंने इतने बड़े देश को एक देश माना उन्होंने उसके पहले अनेक तरह के झगड़े-टण्टों का अनुभव कर और उनमें से संगठन के प्रधान सिद्धान्त का पाठ सीखकर ही इसे एक राष्ट्र माना। इतना बड़ा राष्ट्र अहिंसा के बिना एकत्र टिक नहीं सकता यह रहस्य उनके ध्यान में आ गया और उसे दृष्टि में रखकर ही हिन्दुस्तान के नीति शास्त्र में उन्होंने अहिंसा को राजनैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक, आर्थिक और नैतिक क्षेत्र में उत्कृष्ट सर्वोच्च स्थान दिया।

इसीके फलस्वरूप हिन्दुस्तान की आम जनता ने शस्त्रास्त्र में विश्वास कभी का छोड़ दिया था। यहाँ के निवासियों की यह धारणा बन गयी थी कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है और जैसा कि रवीन्द्रनाथ ने कहा है यह 'मानवों का महासागर' है उसी तरह उसे उनके लिए सुरक्षित रखना है। लेकिन अहिंसा की इतनी सारी नीति-वृद्धि के सामने रहते हुए भी मानना पड़ेगा कि यहाँ राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का व्यापक प्रयोग किया गया हो ऐसे उदाहरण इने गिने ही हैं। हिन्दुस्तान में रहनेवाली जमातों के इतिहास से ज्ञात होता कि

सामाजिक, धार्मिक और वैयक्तिक क्षेत्र में हिन्दुस्तान ने यह प्रयास बहुत अंश में किया है। मान सकता है कि सामाजिक अहिंसा के इस प्रयोग के कारण उसने उन सब जातियों को जो बाहर से हिन्दुस्तान में आयीं आत्मसात् कर लिया।

अहिंसा में ही जन, सज्जन और महाजनों का मिलाप हो

(४) लेकिन राजनैतिक क्षेत्र में यह प्रयोग क्यों नहीं हुआ? सोचने पर इसका कारण मुख्यतः यही मालूम होता है कि हिन्दुस्तान में स्वयं राजनैतिक क्षेत्र का ही स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं था। आज तो जीवन के हरएक कर्म-क्षेत्र को राज्य-व्यवस्था स्पर्श करती है। इसलिए सज्जन, महाजन और जनता, कोई भी उसके प्रति उदासीन नहीं रह सकता।

जनता अगर अपनी शक्ति से ऐसी व्यापक राजनीति चलाये तो वह अहिंसा के प्रयोग के बिना सम्भव नहीं, क्योंकि हिंसा जनता की शक्ति नहीं है। यदि सज्जनों को ऐसी व्यापक राजनीति में शामिल होना हो तो उन्हें अहिंसा के बिना चारा ही नहीं, क्योंकि हिंसा सज्जनों की वृत्ति नहीं है। महाजनों को भी ऐसी व्यापक राजनीति में शामिल होना हो। ऐसा मालूम होता है कि महाजनों के

रहेगा। फिर शारीरिक परिश्रम में भी साधारण और कुशल का भेद रहेगा। लेकिन इतने भेदों के होते हुए भी जो भी कोई मगैर की पुरायें, सचाई के साथ अपनी शक्ति के अनुसार किसी भी तरह का समाजोपयोगी परिश्रम करे, उसे समान अधिकार से जीवन-निर्वाह का पात्र मानना चाहिए।

सेवा की 'आर्थिक कीमत' यह भाषा ही गलत

(६३) वस्तुतः शारीरिक या मानसिक सेवा की 'आर्थिक कीमत' यह भाषा ही गलत है। कारण सेवा नैतिक कोटि की वस्तु है और इसलिए उसकी कीमत नैतिक भाषा में ही आँकी जा सकती है। बीमारी की हालत में एक सेवक बीमार की जो चिन्ता करता है, उस को जगता या सेवा-शुश्रूषा करता है, उसका मूल्य अर्थशास्त्र में कैसे बैठाया जा सकता है? न्यायाधीश जो निष्पक्ष निर्णय देता है, उसकी कीमत रुपये-पैसों में कैसे आँकी जाय? डूबते हुए आदमी को बचाने की या किसीको धधकती आग से बाहर निकालने की कीमत पैसों में किस तरह दी जा सकती है? ये भिन्न-भिन्न उदाहरण इसलिए दिये कि इनमें से कुछ मानसिक, कुछ शारीरिक और कुछ भिन्न स्वरूप के हैं। लेकिन हैं तीनों अनन्त मूल्यवान् अथवा अमूल्य। इसलिए सेवा या परिश्रम के मुआवजे की भाषा को छोड़कर हरएक व्यक्ति अपनी सारी शक्ति लगाकर भक्तिपूर्वक समाज की सेवा करे और समाज व्यक्ति के जीवन-निर्वाह का अपना कर्तव्य पूरा करे, यही दृष्टि उपयुक्त है।

कौटुम्बिक न्याय

(६४) जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त स्वीकार करने पर मजदूरी-मजदूरी में आज जो आत्यन्तिक विषमता पायी जाती है, उसका सहज ही उच्छेद हो जायगा। कुटुम्ब में तो हम कभी-कभी ऐसा देखते हैं कि छोटे बच्चों का खर्च कमानेवाले व्यक्तियों से भी अधिक हो जाता है। ये बच्चे तो कोई भी सेवा नहीं करते, उनके द्वारा सेवा भविष्य में ही होनेवाली होती है। फिर भी पहले इसका अन्दाज लगाकर कि भविष्य में ये कितनी सेवा कर सकेंगे उस हिसाब से उनके लिए खर्च नहीं किया जाता। बल्कि मा-बाप यही मानते हैं कि इन बालकों की परवरिश करना उनकी जिम्मेवारी है। समाज के हर व्यक्ति के बारे में यह जिम्मेवारी

किसी काम का ठेका लेते हैं तब वे सब समान कामों की रुचि नहीं करते, तो भी वे ठेके का बँटवारा बहुत दर्जे तक समान कर लेते हैं। इसमें जी चुरानेवाले को काम टालने का मौका नहीं मिलता और ईमानदार, लेकिन कुछ कमजोर आदमी को थोड़ी रियायत भी मिल सकती है। सामुदायिक सिद्धान्त के कारण काम में जोश आता और भ्रातृभाव बढ़ता है। इसी बात को सर्व-समाज-व्यापी बना देना जरा भी असम्भव नहीं।

शारीरिक परिश्रम के उपविभागों के विषय में इस व्यवस्था के प्रयोग में प्रायः कोई कठिनाई न होगी। लेकिन मुख्य अड़चन है शारीरिक और मानसिक परिश्रमों की कीमत समान ठहराने के बारे में। शिक्षित-वर्ग की ओर से यह प्रश्न जटिल होगा। लेकिन इस व्यवस्था से निर्मित भ्रातृभाव की बदौलत जो उत्साह और सन्तोष मिलेगा उस पर अगर ठीक-ठीक ध्यान दिया जाय तो वस्तुतः यह अड़चन न रहनी चाहिए। स्त्री पुरुषों के वेतन में असमानता तो बिल्कुल बे-बुनियाद है। स्त्रियों के काम में अधिक सातत्य सावधानी और कष्ट पायी जाती है। इसके विपरीत कुछ ज्यादा मेहनत के काम आम तौर पर स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं। अर्थात् कुल मिलाकर दोनों तरफ से आर्थिक समानता कायम करने में कोई कठिनाई नहीं है। स्त्री पुरुष भेद, शरीर-परिश्रम के उपभेद, शारीरिक और मानसिक परिश्रम का भेद, मानसिक परिश्रम के अन्तर्गत भेद ये सभी

वेतन देना है। लेकिन उसकी अपेक्षा सामुदायिक जिम्मेवारी मनुष्य को कहीं अधिक प्रेरणा देनेवाली वस्तु है। कारण उसमें सामाजिक गौरव और आत्म-सन्तोष निहित है। बच्चे के लिए माँ की भावना जितनी उत्साहवर्धक हो सकती है उतने सैकड़ों भवान्तर पारितोषिक नहीं हो सकते। यदि वे कुछ उत्साहवर्धक हों भी, तो साथ ही लोभवर्धक भी होते हैं। अतः सामाजिक गौरव और उससे भी बढ़कर आत्म-सन्तोष को ही प्रेरक तत्त्व मानकर तुल्यता के सिद्धान्त पर आर्थिक व्यवस्था करने के सिवा सात्त्विक 'समुत्थान' का दूसरा कोई भी उपाय नहीं है।

हिन्दू-धर्म का महान प्रयोग : वर्ण-व्यवस्था

(४८) इस दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था की कल्पना कर हिन्दू-धर्म ने बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। लेकिन उसमें ऊँच-नीच के भाव घुस जाने के कारण उसका असली विशुद्ध रूप दूषित हो गया और आगे चलकर तो आर्थिक प्रतियोगिता के आक्रमण की बदौलत बिलकुल बरबाद ही हो गया। व्यक्ति समाज का दिया हुआ काम करे, समाज व्यक्ति की योग्यता देखकर उसे काम दे योग्यता के विकास में आनुवंशिक संस्कारों से सहायता ली जाय तदनुसार तैयार होकर उस काम को उठाना व्यक्ति अपना कर्तव्य समझे, दूसरे कोई व्यक्ति उसमें उससे प्रतिद्वंद्विता न करें सबको समान संरक्षण और तुल्य वेतन मिले जिम्मेवारी से अपने-अपने काम करनेवाले सभी व्यक्ति कल्पनिष्ठ के नाते समकक्ष माने जायँ और उनकी स्वकर्मरूप पूजा से भगवान प्रसन्न हों—इस प्रकार थोड़े में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप है।

आदर्श राज्य-पद्धति को इसी तरह की किसी-न-किसी व्यवस्था की जरूरत रहेगी। (१) वेतन की तुल्यता (२) होड़ का अभाव (३) आनुवंशिक संस्कार से लाभ उठानेवाली शिक्षण-योजना—यह वर्ण-व्यवस्था का सार है। पहले दो सिद्धान्त अर्थशास्त्र के महान प्रमेय हैं और तीसरा समाजशास्त्रीय। कुछ लोगों के खयाल से यह विवादास्पद है। यदि वैसा सिद्ध हो तो भी पहले दो अबाधित ही रहेंगे और तब उतने ही पर व्यवस्था स्थिर करनी पड़ेगी। किन्तु विचार और अनुभव की कसौटी पर कसने के बाद अगर तीसरी बात भी निर्विवाद रूप से खरी उतरे, और ऐसा होना बहुत संभव है तो ऊँच-नीच भाव की

कल्पना किये बिना और उसे बिलकुल एक फौलादी चौखटे का रूप न देते हुए वर्ण-व्यवस्था का ही पुनरुज्जीवन करना पड़ेगा।

आग्रह प्रकार का हो, आकार का नहीं

(४) सेवाभाव, स्वावलम्बन, अहिंसक न्याय और शुद्ध पारिश्रमिक—इन चार स्तम्भों पर राज्यपद्धति का भवन खड़ा करना चाहिए। राज्यपद्धति का स्थूल आकार सामाजिक मनोभूमिका और स्थानिक एवं कालिक अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। जिस कुटुम्ब में माँ-बाप और बिलकुल छोटी उम्र के बच्चे हों, उसका स्वरूप एक तरह का होगा; जिसमें माँ-बाप और जवान लड़के-लड़कियाँ हों, उसका दूसरी तरह का और जिसमें बिलकुल बूढ़े माँ-बाप और प्रौढ़ लड़के-लड़कियाँ हों, उसका तीसरी तरह का होगा। इसी तरह बड़ा कुटुम्ब, छोटा कुटुम्ब, सामुदायिक कुटुम्ब, विभक्त कुटुम्ब आदि कई कल्पनाएँ नैसर्गिक और औपाधिक भेदों के कारण की जा सकती हैं। इन सब कुटुम्बों में कौटुम्बिक तत्त्व एक ही रहेगा। स्थूल-पद्धति अलग-अलग मानी जा सकती है।

चिकित्सा-पद्धतियों के अभिमानी चिकित्साग्रही बन जाते हैं। उसी तरह राजनीतिक विचारक भिन्न-भिन्न वादों के समर्थक और अभिमानी बनकर कहने लगते हैं कि अमुक वाद या पद्धति सभी देशों या सभी कालों के लिए लागू होनी चाहिए। लेकिन गणित जैसे स्थिर शास्त्र को भी आज सापेक्षवाद का कायल होना पड़ रहा है। फिर राजनीतिशास्त्र या समाजशास्त्र तो स्थूल अर्थ में स्थिरता का दावा कभी कर ही नहीं सकता।

वस्तुतः ऐसे मूलभूत शास्त्र बहुत थोड़े हैं, जिन्हें 'शास्त्र' संज्ञा यथार्थ लग सके। वे ही मनुष्य के नियामक हैं। दूसरे सारे शास्त्र, जो शास्त्र के नाम से पहचाने जाते हैं, केवल व्यावहारिक नियमन हैं। वे मनुष्यों द्वारा कल्पित और मनुष्यों द्वारा ही नियम्य हैं। नियामक शास्त्र और नियम्य शास्त्रों के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। इसका ध्यान न रखते हुए नियम्य शास्त्रों को भी नियामक शास्त्र का स्थान देने की चेष्टा करना अशास्त्रीय बुद्धि का लक्षण है।

संक्षेप में जन-सुखवादी और जन-हितकारी राज्य-पद्धति में जो चार आधार हैं, उन्हींका आग्रह रखकर अवान्तर सारी बातें तत्कालीन आवश्यकता पर छोड़ देना ही उचित है।

● ● ●

पड़ती है। पिंड के लिए सदा खेत' वाला न्याय अहिंसा में बाधक नहीं होता। मुझसे किसकी अहिंसा अधिक हो यह मुझे कुकल्पना नहीं मेरा हृदय-परिवर्तन ही करना चाहता है। उसमें उसे स्वभावतः सफलता मिलती है और मेरे लिए भी वह सफलता ही सिद्ध होती है। 'एक की जीत माने दूसरे की हार' यह रीति हिंसा की है। अहिंसा में तो जो एक की जीत है वही दूसरे की जीत है। अगर कोई वास्तविकरूप प्रश्न शेष रह ही जाय तो अहिंसा का तरीका अत्यन्त सरल है : वह तटस्थ पंचों को सौंप दिया जाय।

अहिंसा का राष्ट्रव्यापी प्रयोग सुगमतर

(५३) अहिंसा का इस ढंग का राष्ट्रीय प्रयोग एक तरह से व्यक्तिगत प्रयोग की अपेक्षा अधिक सुगम होगा क्योंकि व्यक्तियों के संबंध में तो उनमें विरोध पैदा होकर उनमें से अहिंसक व्यक्ति की अहिंसा का असर हिंसक व्यक्ति के चित्त पर होने से पहले ही या बगैर उसे मौका मिले ही यह हो सकता है कि हिंसक व्यक्ति आपे से बाहर होकर उसका काम तमाम कर दे। ऐसी सम्भावना व्यक्तिगत सम्बन्धों में ही होती है; लेकिन राष्ट्रों के सम्बन्ध में इस तरह की कोई सम्भावना नहीं होती। दो राष्ट्रों के बीच विरोध उपस्थित हो गया है, उनमें से एक समूचे राष्ट्र ने एकाएक पागल होकर दूसरे अहिंसक राष्ट्र का उसकी अहिंसा से प्रभावित होने से पहले ही आद्योपान्त सफाया कर दिया इस तरह की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन हम देखते हैं कि व्यक्तिगत युद्ध में, जहाँ कि व्यक्ति के पागल हो जाने की सम्भावना होती है, अहिंसक व्यक्ति ने हिंसक व्यक्ति पर करीब-करीब हमेशा विजय पायी है। फिर राष्ट्रीय युद्ध में, यानी जहाँ ऐसे दीवानपन की गुंजाइश नहीं है अहिंसा का आश्रय लेकर संगठित होनेवाला राष्ट्र विजयी क्यों न हो इसका कोई उत्तर नहीं है। इसके अलावा हिंसा की तरह यहां 'एक की जय और दूसरे की क्षय' ऐसा हाल नहीं है वहाँ अहिंसक राष्ट्र को विजय के सिवाय में डरने का कोई कारण ही नहीं।

अहिंसा के लिए भी शिक्षा संगठन त्याग अनिवार्य

(५४) क्या तब अहिंसक राज्य-पद्धति का संपूर्ण-युद्ध की तैयारी! — इस तरह की समस्या उपस्थित होने पर अहिंसा का उपयोग अपने-आप ही इस तो

जाता है। फिर भी अहिंसक राज्यपद्धति के लिए संगठन और शिक्षण-प्रचार आदि की आवश्यकता रहेगी ही। शस्त्र-युद्ध के लिए जिस प्रकार के संगठन की जरूरत होती है उसकी अपेक्षा अहिंसा का संगठन यद्यपि भिन्न प्रकार का होगा तथापि उसे इतना व्यापक होना पड़ेगा कि वह जनता के प्रत्येक व्यक्ति को स्पर्श कर सके। इस विषय में योजना ऊपर सुझायी ही गयी है। उसे कार्यान्वित करने के पहले अहिंसा की ओर सहज ही प्रवृत्त लोकमत को ज्ञानपूर्वक अहिंसक बनाना पड़ेगा। यों तो सर्वसाधारण जनता की वृत्ति हमेशा ही अहिंसक होती है; लेकिन वह तत्त्वज्ञान से अहिंसक बननी चाहिए। मतलब यह कि निष्क्रिय अहिंसा से काम न चलेगा। उसके बदले सक्रिय-जीवन के सभी क्षेत्रों को व्यापनेवाली— अहिंसा की जरूरत होगी। अहिंसा एक सार्वभौम निष्ठा या दर्शन है। दर्शन एकांगी नहीं होता वह जीवनव्यापी होना चाहिए। अगर यह मान लिया जाय कि समाज की आर्थिक सामाजिक वर्तमान रचना ज्यों-की-त्यों रहेगी, तो अहिंसा के लिए उसमें गुंजाइश कैसे रहेगी? लेकिन अगर राष्ट्र के आन्तरिक व्यवहार और अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार की कुछ व्यवस्था अहिंसा के सिद्धान्त पर खड़ी की जाय तो अहिंसा में ऐसी कोई मर्यादा नहीं कि वह व्यवस्था टिक न सके।

आज हम देखते हैं कि हिंसक राज्यपद्धति की रक्षा के लिए राष्ट्रों को सर्वस्व त्याग करना पड़ता है। लेकिन अहिंसक पद्धति की रक्षा की कल्पना करते समय तो यह आशा की जाती है कि शरीर और सम्पत्ति को जरा भी धक्का लगे बिना काम बन जाय। यद्यपि अहिंसक स्वराज्य सब तरह से कुशल है, तथापि यह आश्वासन नहीं कि वह यों ही अनायास सम्पन्न हो जायगा। कल्पनातीत की भारी शक्ति देकर भी सर्वस्व और प्राणार्पण के लिए—प्रतिपक्षी को जरा भी पीड़ा न देते हुए शान्त प्राणार्पण के लिए—तैयार रहना होगा। अहिंसा की लड़ाई रण में नहीं, हृदय में लड़ी जाती है। लेकिन लड़ाई की तैयारी तो अहिंसा की चाहिए ही। सारे समाज में अहिंसा का प्रचार हो जाने के बाद भी तैयारी की यह जरूरत न रहे ऐसी बात नहीं। कभी एक बार का कमाया हुआ [illegible] [illegible]। [illegible] तो हिंसा में है और न अहिंसा में ही। प्रतिकार-शक्ति सर्वदा जगानी ही होगी। अहिंसक जीवन के माने भावनिक त्याग ही नहीं वरन् [illegible] त्याग [illegible] नित्य त्याग ही नहीं अपितु त्याग का आनन्द भी है।

अहिंसक व्यवस्था अतिमानवीय नहीं

(९९) लेकिन बहुतों को यह शंका होती है कि यह सब हो कैसे ? कोई पूछते हैं कि इसके लिए कहीं अति-मानवों की जरूरत तो न होगी ? अति-मानवों की कल्पना करने के बाद प्रतिकार का सवाल ही नहीं उठता। जब हम प्रतिकार की बात करते हैं तब हम साधारण मानवकोटि का ही विचार करते हैं। केवल पशुत्व को ही बाद कर देते हैं। साथ ही यह भी अपेक्षा नहीं करते कि पशुत्व सभी मनुष्यों में से सर्वथा नष्ट हो जायगा। हाँ इतनी ही अपेक्षा करते हैं कि पशुत्व मनुष्यता के अंकुश में रहे। इसलिए अहिंसक रचना करना किसी भी तरह असम्भव नहीं है। ऐसी अहिंसक रचना जितनी स्थायी होगी उतनी दूसरी कोई भी व्यवस्था नहीं हो सकती।

○ ● ○

पाँचवाँ प्रश्न

प्रश्न : जब कि दूसरे सभी राष्ट्र हिंसावादी हैं क्या कोई एक राष्ट्र अकेला अहिंसावादी रह सकता है ?

अकेला भी अहिंसक राष्ट्र सर्वथा सुरक्षित

उत्तर : (२६) अहिंसक विचार-प्रणाली के अनुसार एक ही मानव-समाज में विभिन्न राष्ट्रों की कल्पना केवल सुभीते की ही बुनियाद पर की जा सकती है। किसी भी एक राष्ट्र को अगर अहिंसा की सुबुद्धि प्राप्त हो जाय तो वह अपने आपको दूसरे राष्ट्रों से पृथक् और विरोधी न मानेगा। आसपास के राष्ट्रों के न्यायोचित हितसम्बन्धों की रक्षा की वह उतनी ही चिन्ता करेगा जितनी अपने निज के। हिंसावादी कहे जानेवाले सभी के-सभी राष्ट्र उन्मत्त नहीं होते। बल्कि यही कहना चाहिए कि राष्ट्र एक-दूसरे की स्पर्धा के कारण ही हिंसावादी बने हैं। मनुष्य का स्वभाव हिंसा के लिए हिंसा नहीं चाहता। इसलिए अगर कोई एक राष्ट्र अहिंसक विचार के अनुसार व्यवहार करने की इच्छा रखता और उसके अनुसार नीति में अपराधी मत्सर न जोड़ने की कोशिश करता हो तो वह आसपास के राष्ट्रों में निर्भयवृत्ति जगाकर उन्हें शांति देगा और उनके साथ

उन पर बाधा डालें, तो वह उनका अहिंसक प्रतिकार करेगा। इस तरह की वृत्ति रखनेवाला अकेला राष्ट्र एकाकी न रहेगा। वह दुनियाभर में अपने लिए सहानुभूति का वज्र कवच निर्माण करेगा। ऐसे राष्ट्र की कल्पना करना असंभव क्यों हो?

अहिंसक राष्ट्र अक्षुब्ध

(५७) अथवा अगर बाहरी राष्ट्र आक्रमण करना चाहें तो क्यों—(अ) क्या इसलिए कि उनके पास जमीन कम और जनसंख्या अधिक है और हमारे पास जमीन भरपूर तथा लोकसंख्या अल्प है? अगर ऐसा हो, तो उनमें से जो लोग हमारे देश में रहना और यहाँ की व्यवस्था में शरीक होना चाहते हों उनका हम स्वागत ही क्यों न करें? ऊपर कहा जा चुका है कि अहिंसक राष्ट्र अपने-आपको पृथक् नहीं मानता। प्राचीन हिन्दुस्तान की वृत्ति शास्त्रीय और परिनिष्ठित अहिंसा की न कही जाय तो भी क्या हिन्दुस्तान ने संकटग्रस्त पारसियों को आसरा नहीं दी? उससे हिन्दुस्तान का क्या नुकसान हुआ? (आ) अथवा क्या दूसरे राष्ट्र दुर्भिक्षादि किसी आपत्ति के कारण चढ़ाई करेंगे? अहिंसक राष्ट्र स्वयं थोड़ी-बहुत मुसीबत उठाकर भी ऐसों की मदद किये बिना कैसे रहेगा? (इ) अथवा लोभवृत्ति के अधीन होकर व्यापार की मण्डी पर कब्जा करने के लिए हम पर कोई आक्रमण करेगा? लोभ की ताली एक हाथ से कभी नहीं बजती। हम अगर आलसी या विलासी होंगे, तो परायों के लाभ के लिए मौका देंगे। लेकिन वैसी हालत में हम अहिंसक ही न होंगे। (ई) अथवा क्या सरहद पर रहनेवाले सम्मिश्र समाज के अन्तर्गत विदेशियों के हित-सम्बन्धी के झमेले के कारण हम पर आक्रमण होगा? उस हालत में इस समस्या का ऐसा समाधान करना जो दोनों पक्षों को मान्य हो दुर्बल अहिंसावाले राष्ट्र के लिए असम्भव भले ही हो, पर बीयवती अहिंसावाले राष्ट्र के लिए सम्भव क्यों न होगा?

और मान लीजिये कि आखिर लड़ाई तक ही नौबत आ जाय तो हिंसा ने आज तक राष्ट्रों को जितना संरक्षण दिया उससे कम संरक्षण उस राष्ट्र को अहिंसा से क्यों मिले, जिसमें आमरण वह सहनेवाले वीर मौजूद हों?

दुर्बल अहिंसा का लक्षण

(५८) सच तो यह है कि किसी राष्ट्र के अहिंसावादी बनने पर उसके स्थायित्व के विषय में जो सन्देह उठता है, उसमें कल्पनाशक्ति की कमी है। वस्तुतः आज हिंसक लड़ाई करनेवाले लोगों को कुछ कम कष्ट उठाने पड़ते हों सो बात नहीं। हिंसा की वेदी पर इतनी सारी आहुतियाँ और बलिदान चढ़ाने के बाद जो लाभ होता है उसकी अपेक्षा उसी बलिदान को अहिंसा के लिए करने की तैयारी मान लिया जाय तो कम लाभ होगा यह कल्पना मानवस्वभाव मंजूर न करेगा। लेकिन हिंसा के लिए तो बहुत भारी बलिदान की कल्पना कर, अहिंसा के लिए अल्प बलिदान या अबलिदान की कल्पना की जाती है, वह दुर्बल अहिंसा है। निश्चय ही ऐसी अहिंसा दुनिया में टिक नहीं सकती।

भीतरी अराजकता और बाहरी आक्रमण से भय नहीं

पुलिस रहेगी या नहीं ?" जवाब देनेवाले जवाब देते हैं : "पुलिस रहेगी मगर कुछ और ढंग की।" लेकिन इससे दूसरी भाषा में यह क्यों नहीं कहा जाता कि "पुलिस न रहेगी जागरूक सेवक-दल रहेगा और रहेंगे स्वराज्य का भान रखनेवाले नागरिक ?" ऐसा उत्तर इसीलिए नहीं दिया जाता कि ये प्रश्नोत्तर आदर्श व्यवस्था के नहीं हैं, बल्कि सम्प्रति अहिंसा के मार्ग की हमारी गति और वर्तमान परिस्थिति को न छोड़ते हुए हमारी कल्पनाशक्ति जितनी दूर तक चल सकती है, उसके अनुसार दिये गये हैं।

सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

पुस्तक	रु न पैसे
गीता-प्रवचन	१—२५ सजिल्द १—५
शिक्षण-विचार	१—५
सर्वोदय-विचार और स्वराज्य-शास्त्र	१—
कार्यकर्ता-पाथेय	०—५
भूदान-गंगा (छह खण्डों में) प्रत्येक	१—५
ज्ञानदेव चिंतनिका	१—
भगवान् के दरबार में	०—२५
ग्रामदान	०—७५
शांति-सेना	०—५
गुरुबोध	१—५
भाषा का प्रश्न	०—२०
लोकनीति	१—२५
जय जगत्	०—२५
सर्वोदय पात्र	०—२५
साम्य-सूत्र	०—१७
स्त्री शक्ति	०—७५
समग्र ग्राम सेवा की ओर (संक्षिप्त)	१—
शासन मुक्त समाज की ओर	—५
नयी तालीम	०—५
सम्पत्तिदान यज्ञ	—५
व्यवहार-शुद्धि	०—१७
गा आन्दोलन क्या ?	२—
गांधी अर्थ विचार	१—
स्व नी समाज रचना	२—५
ग्राम सुधार की एक योजना	—७५
सम न्य दर्शन	१
[illegible]	६
सत्य की खोज	१—५० सजिल्द २—०
माता-पिताओं से	०—१०
बालक सीखता कैसे है ?	०—५
मछुओं की कथा में	१—५
चलो चलें मंगरौठ	०—७५
भूदान-गंगोत्री	१—५
भूदान-आरोहण	०—५
श्रम दान	०—१५
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ?	१—५
सफाई : विज्ञान और कला	०—७५
सुन्दरपुर की पाठशाला	०—७५
गो-सेवा की विचारधारा	०—५
पावन-प्रसंग	०—५
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र	०—२५
सर्वोदय-संयोजन	१—०
गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन	०—५
व्याज-बट्टा	—२५
समाजवाद से सर्वोदय की ओर	—१०
गांधीजी क्या चाहते थे ?	०—५
ग्रामदान : वरदान	—२५
कुष्ठ सेवा	१—२५
प्राकृतिक चिकित्सा-विधि	१—५
बापू के पत्र	१—२५
स्मरणांजलि (जमनालाल बजाज)	१—५
मेरा जीवन-विकास	०—५
विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था	०—३१